श्री जितातु रमा ...

कन्या महाविद्यालय

वराणसी उन्नत मालयको

भेंट।

रा राधाकृष्ण

१०. ४. १९६६.

R. Radhakrishna,

102 A. Queen St.

Rose-Hill

Mauritius

मॉरीशसीय जनसेवक

# स्व० सुखदेव विष्णुदयाल

ओ३म्

# मॉरीशसीय जनसेवक

# स्व० सुखदेव विष्णुदयाल

प्रकाशक

जी० गंगाराम
सुखदेव विष्णुदयाल स्ट्रीट,
पोर्ट लुई (मॉरीशस)

प्रकाशक :
**जी० गंगाराम**
सुखदेव विष्णुदयाल स्ट्रीट,
पोर्ट लुई (मॉरीशस)

प्रथम संस्करण : १९७९
द्वितीय संस्करण : १९८२

मूल्य : पाँच रुपये

मुद्रक :
अजय प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२
(भारत)

# भूमिका

इस पुस्तक में प्रा० वा० विष्णुदयाल ने अपने अनुज स्व० सुखदेव जी के विषय में जो बताया है, वह अभी तक अज्ञात रहा।

दूसरे अध्याय में हमको दर्शाया गया है कि एक बालक पर दिवंगत आत्मा का कैसा प्रभाव पड़ता रहा।

स्व० सुखदेव जी ही नहीं, उनके दो अग्रज प्रा० वासुदेव तथा स्व० सुग्रीव दक्षिण मॉरीशस के लघु ग्राम तायाक में जन्मे थे। सुखदेव जी की जन्म-तिथि २५ दिसम्बर, १९०८ ई० है। इस हिसाब से वे ६९ वर्ष की वय के होने ही वाले थे कि उनका स्वर्गवास दि० १८-८-७७ को हो गया। इन भाइयों के जन्मकाल में तायाक नाम ग्राम को दिया नहीं गया था।

वे ३ साल के थे जब विष्णुदयाल-परिवार रोज़िल नगर में रहने लगा। वहाँ दो वर्ष व्यतीत करके उक्त परिवार मॉरीशस की राजधानी पोर्ट लुई में आया। १९१४ में वे 'विल्येर्स रेने' स्कूल में प्रविष्ट हुए जिसमें उनके दोनों अग्रज पहले से ही छात्र थे। रेने नामक मुख्याध्यापक का प्रभाव तीनों पर पड़ा। इस गुरु के अनेक शिष्य देशभक्त हुए। इनका पदार्पण सामयिक था। वह अश्वेत जातियों का उत्थानकाल था।

उसी स्कूल में सुखदेव जी अध्यापन करने लगे। कुछ वर्षों के पश्चात् वे 'वैस्टर्न सबर्ब' (Western Suburb) स्कूल के अध्यापक हुए।

उस पाठशाला के आसपास में सैन्यावास है जहाँ १९३१ में एक दिन पुलिस ने इनके कुछ विद्यार्थियों के साथ दुर्व्यवहार किया। वे वहाँ जाकर समझाने लगे कि ऐसा व्यवहार निन्द्य है। पुलिस ने उन्हें तत्क्षण गिरफ्तार कर लिया।

इस घटना का मॉरीशस के इतिहास में महत्त्व है। इसी के कारण सुखदेव जी १४ साल बाद कार्यक्षेत्र में उतरे। उनके साथ न्याय किया जाय तो कहना चाहिए कि उनका कार्यकाल १९३१ से १९७७ तक रहा।

धारासभा के सदस्य होने की हैसियत से वे एक रोज कुछ ग्रामीणों के साथ सैन्यावास में पधारे। जब लोग अन्दर घुसने लगे तो एक जीर्ण द्वार टूट गया। उनपर पुलिस गोली चलाने को तैयार हो गयी थी। ऐसी ही घटना दिल्ली में घटित हुई जब पुलिस वीर संन्यासी स्वामी श्रद्धानन्द पर गोली चलाने को उद्यत हुई थी।

सुखदेव जी मन्त्री-पद पर आसीन थे जब सैन्यावास में तीसरी बार वे संकटग्रस्त हुए। किसी 'धर्मगुरु' ने कुछ लोगों को 'संघर्ष' करने की सलाह दी थी। एक ने एक कंकड़ सुखदेव जी पर फेंका। गुरु महाराज को अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए इस्तीफा देना पड़ा। कभी स्कूल-विभाग के अधीक्षक, कभी पुलिस तो कभी 'धर्मगुरु' के क्रोध का उन्हें शिकार होते देश ने देखा। उन्होंने वह मार्ग चुना तो विघ्नसंकुल था।

उन्होंने १९४५ तक अध्यापन किया। वार्ड नामक अंग्रेज स्कूल-विभाग के अधीक्षक बने। उन्होंने भारतीय भाषाओं की पढ़ाई को बन्द करने का निश्चय किया। उनका यह भी मत था कि बहुत ही थोड़े लोगों को कॉलेजों में लेना चाहिए। इस बहाने वे मॉरीशसियों को शिक्षा से वंचित रखना चाहते थे। स्कूल-विभाग के कर्मचारी होते हुए भी सुखदेव जी ने वार्ड का डटकर सामना किया।

१९४५ में स्कूल-विभाग को छोड़कर वे ट्यूशन करने लगे। देश-भर से लोग उनके घर पढ़ने आते थे। उन्हें थोड़े ही दिनों में बहुत-से ऐसे शिष्य मिले थे जो द्वीप के विभिन्न स्कूलों में अध्यापन करने लगे।

१९४६ में वे राजनेता के रूप में प्रकट हुए। अनेक राजनेताओं का सहयोग उन्हें तत्काल प्राप्त हुआ।

१९३९ से उनके अग्रज कार्यरत थे ही जिससे १९४६ तक आते-आते देश का चेहरा ही बदल गया।

प्राध्यापक वा० विष्णुदयाल की देन के सम्बन्ध में 'हिन्दुस्तान' ने

दिनांक १७-६-७३ को यह लिखा था, जो सही है—

"१६४३ के अन्त में पं० विष्णुदयाल ने एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया जिसमें साठ हजार व्यक्ति सम्मिलित हुए। प्रवासी भारतीयों के इतने बड़े संगठित जनसमूह को देखकर वहाँ के गोरे जमींदार और उन्हीं के पालनपोषण के लिए टिकी अंग्रेज सरकार भी हिल उठी। उन्होंने समझ लिया कि इन प्रवासी भारतीयों की अब उपेक्षा नहीं की जा सकती।"

हमारे त्योहार लोकप्रिय हुए। लोग मकर संक्रान्ति अपूर्व ढंग से मनाने लगे जब प्रोफेसर महोदय सें जिल्यें में काम करते थे वे वहीं सप्ताह में पाँच दिन रहते थे। उनके भारत से लौट आने पर न केवल उस ग्राम में अपितु मायापुरी या माहेवर्ग, न्यू ग्रोव, तेर रूज या बुआ पियोले, पितों, चितख्यि या प्रेरितेश्वर, वेल वि मोरेल. परी तालाव आदि स्थानों पर यह त्योहार मनाया गया। सरकार ने संक्रान्ति के रोज छुट्टी देना शुरू किया।

इस त्योहार का नाम विष्णुदयाल नाम से सम्बद्ध हो गया, अतः छुट्टी देना वन्द हुआ!

१६८२ में अचानक सुनने में आया कि १४ जनवरी को छुट्टी दी जाएगी! कारण यह है कि सुखदेव के देहावसान के पश्चात् प्रो० विष्णु-दयाल ने देश का दौरा किया, अपार जन-समूह पहले की तरह उपस्थित होता रहा, वेदतान से जनता को परिचित किया गया। डाक विभाग ने ऐसा टिकट जारी किया जिसपर वेद का चित्र अंकित है। ४२ साल ये सेवक कार्य कर चुके थे जब शासकों को सूझा कि भारतीय संस्कृति तथा भारतीय सभ्यता से मुख मोड़ने से देश का कल्याण न होगा।

१६४७ में नया संविधान मिला और १६४८ में आम चुनाव हुआ। सुखदेव जी निर्वाचित हुए। उन्होंने क्या धारासभा में, क्या सभा के बाहर, खूब जनसेवा की। १६६५ में लन्दन में एक सम्मेलन हुआ जहाँ उन्होंने स्वराज्य की माँग की। फलस्वरूप १२ मार्च, १६६८ ई० को देश स्वतन्त्र हुआ।

तीसरा अध्याय तीनों भाइयों के मित्र श्री रघुनाथ जानकी की लेखनी से प्रसूत है। वे विक्षुब्ध हुए जब उन्होंने सुना कि सुखदेव जी न रहे।

अभी तक उपकृत जन, जिनमें प्रवासी और अप्रवासी सम्मिलित हैं, कह रहे हैं कि जिस पुरानी लकड़ी के घर में सुखदेव पिछले ५० वर्ष रहे, वह वैसे का वैसा रह गया।

वे धारासभा तथा एसेम्बली के चिरकाल तक सदस्य रहे। उन्होंने पैसे के बल लोगों को अपने हक में नहीं किया था। वे मन्त्री हो जाने पर भी मोटर नहीं रखते थे। उन्होंने भारत, अमेरिका, यूरोप-यात्रा के साथ-साथ लघु द्वीप रोड्रिग (Rodrigues) की भी यात्रा की। उन्होंने तीन ग्रन्थ रचे जिनमें से एक मॉरीशस के शक्कर के व्यवसाय का खोजपूर्ण इतिहास है और शेष दो भ्रमण-वृत्तान्त हैं जो लेख के रूप में पहले यहाँ के दैनिक पत्रों में प्रकाशित हुए थे। वे बार-बार यात्रा करने के पक्ष में न थे। ये मॉरीशसीय न तो संस्कृति से शून्य (एंकिल्त) और न ही अयोग्य (एंकोम्पेताँ) थे। श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए एक अप्रवासी पत्रकार ने उन्हें 'भूमि का पुत्र' कहकर पुकारा। उनके द्वारा मानो ये शब्द दोहराए गये—

"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः—भूमि मेरी माँ है, मैं इस विस्तृत पृथिवी का पुत्र हूँ।" (अथर्ववेद)

१९७८ में सब पत्रों ने खेद से लिखा कि एसेम्बली में कुछ न हुआ। एक के अभाव से देश तथा जनता की अपूर्व क्षति हुई।

माता-बहिनें सर्वाधिक क्षुब्ध हैं। एक विदुषी बहिन से रहा न गया। इस ग्रन्थ के चौथे अध्याय को श्रीमती कृष्णकुमारी राधाकृष्ण ने लिखा जिनके स्वर्गीय पिता प्रा० बा० विष्णुदयाल से पहले विद्याध्ययनार्थ लाहौर पहुँचे थे।

चौथा अध्याय उन स्थानों की चर्चा से खुलता है जो सुखदेव जी की स्मृति को ताजा रख रहे हैं।

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण प्रकाशित हो गया था जब देश को ज्ञात हुआ कि सुखदेव विष्णुदयाल एवन्यू बाब्बा में है जहाँ इस शताब्दी के आरम्भ में आर्यसमाज के कर्मठ धर्मोपदेशक डॉ० चिरंजीव भारद्वाज जी रहते थे। सुखदेव जी और उनके दोनों अग्रज भोला मास्टर के कृपाभाजन थे। ये महानुभाव बैरिस्टर गाँधी का पत्र पाकर दक्षिण अफ्रीका के एक स्कूल

में अध्यापन करने गये थे। एक ओर ये बैरिस्टर १९१४ में भारत लौटे और दूसरी ओर मास्टर जी अपने पाई नामक ग्राम में लौट आये जब उन्होंने डॉ० भारद्वाज की तन, मन, धन से सेवा की।

हमारे चरित-नायक १९४५ में फ्लाक के जिले में पड़े हुए सें जिल्यें ग्राम के उसी स्कूल के अध्यापक हो गये थे जिसका सम्बन्ध प्रो० वासुदेव विष्णुदयाल के साथ ६ साल रहा। वहाँ या लालमाही में प्राथमिक पाठ-शाला को सुखदेव जी का नाम दिया गया है।

ये और इनके दो अग्रज अर्थात् सुग्रीव तथा वासुदेव एक-दूसरे से कभी अलग न हुए। सर्वप्रथम सुग्रीव समाज सेवी हुए। वे अपने जमाने की आर्य संस्था के महामन्त्री हो गये थे जब एक बार एक सूचना पर अपने हस्ताक्षर देते हुए उन्होंने अपने नाम का शुद्ध रूप "विष्णुदयाल" पेश किया। "विसुन्द्याल" अशुद्ध रूप है।

उनसे दोनों अनुज प्रेरणा पाते थे। सुग्रीव ने जिस सरकारी स्कूल में अन्तिम समय में अध्यापन किया वहाँ के प्रवासी छात्रों को हिन्दू धर्म की शिक्षा दी थी। किसको मालूम था कि १९२९ में जिस कार्य का श्री गणेश हुआ था उसकी ओर कैम्ब्रिज का ध्यान खींचा जायेगा और वह "हिन्दू धर्म" को एस० सी० तथा एस० एच० सी० की परीक्षाओं में बैठने वालों के लिए एक विषय १९८० तथा १९८२ में बनायेगा, जिस महोदय ने उक्त विश्वविद्यालय के लोगों से चिट्ठी-पत्री की, वे १९२९ में शिशु होंगे।

विष्णुदयाल बन्धुओं ने अपना कार्यक्षेत्र खूब बढ़ाया। सुग्रीव के जीवित काल में सुखदेव की गिरफ्तारी हुई थी। बीमार पड़ने पर सुखदेव अस्पताल गये थे क्योंकि सुग्रीव जो खुद रुग्ण थे, घर पर रहकर ही अपना स्वास्थ्य सुधार सकते थे। सुखदेव को फोड़ा हुआ था जो इस ढंग से चीरा गया कि हद से ज्यादा खून बहा। उन्हीं दिनों वे बुद्धिजीवियों की करतूतों पर प्रकाश डाल रहे थे। 'मारीशसीय' दैनिक पत्र के राउल रिवेत सम्पादक थे जो सुखदेव के लेखों और चिट्ठियों को स्वीकार करते थे। बुद्धिजीवी उत्तर देने में समर्थ न थे। बस, यातना देना ही उनका उत्तर था।

१९८१ में डाक विभाग ने अनेक टिकट जारी किये जिनमें से एक है, जिसकी बायीं ओर रेमी ओल्ये का चित्र और दाहिनी ओर सुखदेव का दिखाई देता है।

ओल्ये का देहान्त १८४५ में हुआ था। जब अफवाह गर्म थी कि उन्हें शरबत पिलायी गयी थी जिसमें जहर था। ओल्ये के युग में मुक्त दासों की संख्या भारत से आगत श्रमजीवियों की संख्या से अधिक थी। ओल्ये ने दोनों का पक्ष ग्रहण करके खतरा मोल लिया था। सुखदेव के हृदय में इनके प्रति कृतज्ञता थी। लोग इनका नाम कम सुनते थे। जब सुखदेव १९४६ में या ओल्ये के देहावसान के १०१ साल बाद इनके नाम के साथ जाकमें, दे प्लेवित्स, बोज़ारं के नाम लेने लगे। कुछ लोग रुष्ट हुए। एक गली को प्लेवित्स नाम दिया गया पर रुष्ट लोगों की छाती पर साँप फिरने लगा। वह नाम मिटा दिया गया। सुखदेव कम्पनी बाग में जहाँ ओल्ये की अर्ध-प्रतिमा है, मीटिंग करके घर लौट रहे थे कि इतने में एक मोटर गाड़ी से उतरकर कुछ व्यक्ति इनपर पिल पड़े। घर लौटने की जगह अस्पताल ले जाये गये। सैन्यावास, हवालात, अस्पताल मानो ऐसे स्थान हो गये थे जहाँ पर इन्हें अपना समय व्यतीत करना पड़ता था। इनके परिवार के लोग भयभीत होकर इस परिणाम पर पहुँचे कि घर के बाहर ही इनके प्राण लिये जाएँगे। वे गुजरे तो अस्पताल में ही।

ये एसेम्बली के सदस्य बनकर फूलकर कुप्पा होने वाले न थे। इन्हें रायबहादुरों की तरह कोशिश करके सम्मानित होने की चिन्ता न थी।

सुखदेव जी को हर वक्त याद था कि वे स्कूल के अध्यापक रह चुके थे। जो लोग उनके स्कूल-विषयक प्रस्तावों को पारित न होने देते थे उन्होंने जनता को गुमराह करने के विचार से निःशुल्क पढ़ाई के पक्ष में कदम उठाया! विदेशी शासकों के रहते जो भीगी-बिल्ली थे, वे एकदम बदल गये।

सत्पथ से तिलमात्र अलग होने को जो कभी तैयार न थे, उनकी देन की चर्चा पत्रकार बहुत ही कम करते हैं। किसी को शायद ही स्मरण हो कि जब सुखदेव जी का प्रस्ताव पारित न हो सका तो उन्होंने १९५६ में

सत्याग्रह करने का आदेश दिया था। फलस्वरूप १९५७ के आरम्भ में २४ हजार से अधिक बालकों को हमारे स्कूलों में जल्दी-जल्दी स्थान बनाना पड़ा।

अपने मन्त्रित्व-काल में उन्होंने चार नवीन महापालिकाएँ बनाईं, जिनके द्वारा उन्होंने मानो जन-स्वतन्त्रता और स्वशासन का मार्ग प्रशस्त किया।

यह उन्हीं की माँग थी कि छोटे न्यायालय में जब न्यायाधीश फैसला करे तो लिख दिया करे कि किस कारण से अभियुक्त दण्डित हुआ। हवालात में गिरफ्तार किये गये व्यक्तियों से मानवोचित व्यवहार किया जाये, इस पर वह पूरा बल देते थे। कात्र बोर्न में मेला भरा था जब उन्होंने मिल-मालिक के अत्याचारों का वर्णन किया था।

एक पुस्तिका में उनकी सब सेवाओं का विस्तृत वर्णन करना असम्भव है।

उनकी भारतीयता से कुछेक चिढ़ते भी थे। धारासभा के ऐसे लोग सदस्य होते रहे थे जो फ्रांस या विलायत में पढ़कर डॉक्टर हो गये थे या विलायत के किसी-न-किसी 'टम्पल' के बैरिस्टर थे। ऐसे लोगों को एक अध्यापक द्वारा पछाड़ा जाना असह्य होता था।

एक राज्यपाल प्रा० वा० विष्णुदयाल की दिन-भर निन्दा करते थे। सुखदेव जी तर्क करते थे कि कोई कारागृह में पड़ा हुआ हो तो उनकी अनुपस्थिति में उनकी भद्दी आलोचना करना किसी सभ्य पुरुष का काम नहीं हो सकता। १९४८ में वे निर्वाचित हुए तो राज्यपाल ने उनसे हाथ मिलाने का इरादा किया। सुखदेव ने धन्यवाद में केवल हाथ जोड़ दिये। उस दिन पश्चिमी सभ्यता को अपूर्व धक्का लगा। उनके देहान्त के डेढ़ वर्ष पश्चात् भी पत्रों में इसका उल्लेख होता रहा।

इसके परिणामस्वरूप नये राज्यपाल ने उन्हें देख स्वयं हाथ जोड़कर प्रणाम किया। इस तरह भारतीयता का विजय-अभियान शुरू हो गया।

फ्रांस या विलायत में शिक्षा पाकर स्वदेश लौटे हुए प्रवासी न इधर के रहे, न उधर के। अपने बचाव के लिए वे कभी-कभी धोती पहन लेते हैं

ग्रौर 'परी तालाब' नाम के तीर्थस्थान पर पधारकर मात्र दिखावे की पूजा कर लेते हैं।

भारतीय सभ्यता का महत्त्व बढ़ा कि प्रवासियों का ईसाईकरण बन्द हो गया। चार दशक पहले कुल ग्रावादी का ४८ प्रतिशत भाग हिन्दू-तत्त्व था। ग्रब यह ५२ प्रतिशत हिस्सा हो गया है।

सुखदेव ग्रध्यापक थे। उन्होंने धारासभा में कहा—In 1931 simply becaues I told a police corporal he should not ask of my pupils an cntrance-fee at the Barracks to attend a foot-ball-match, I was arrested.

उसी सभा में बोलते हुए उन्होंने कहा कि इस देश के राज्यपाल, जिनकी ग्रध्यक्षता में ग्रधिवेशन चल रहा है, न जाने कैसे उपनिवेश सचिव को लिख गये कि यहाँ के हिन्दू-तत्त्व से बचकर रहना होगा! उन्होंने तथ्यों ग्रौर ग्राँकड़ों से सिद्ध किया कि राज्यपाल की मान्यता या धारणा निराधार है।

१९६५ में भारत-यात्रा के पश्चात् मन्त्रियों को लन्दन-सम्मेलन में सम्मिलित होने का ग्रवसर मिला। एक गोरे ने वहाँ राज्यपाल का मत दोहराया। तब तक सुखदेव को ग्रन्य तथ्य ग्रौर ग्राँकड़ों का ज्ञान हुग्रा। वे देर तक बोले। उपनिवेश-सचिवालय के ग्रनेक ग्रँग्रेजों ने उन्हें बधाई दी। लोगों को भवन से बाहर ग्राते देखकर एक युवक एक बूढ़े की प्रशंसा के पुल बाँधने लगा। बूढ़े ने उसे कहा, बधाई मुझे न देकर विष्णुदयाल को दो। सुखदेव की ग्रोर ताककर बूढ़े कहने लगे, ग्राज तुमने जो कार्य किया उसकी स्मृति में तुम्हारी मूर्ति बनानी चाहिए। ग्रभी तक बूढ़े से पूछा जा रहा है, मूर्ति कब बनेगी।

पाँचवाँ ग्रध्याय उनका लिखा हुग्रा है जिन्हें सुखदेव की ग्राज्ञा शिरोधार्य करने ग्रौर उन्हें मदद पहुँचाने में खुशी होती थी।

ग० गंगाराम

मॉरीशस
१५-४-८२ ई०

# मेरे अनुज

—प्रो० वा० विष्णुदयाल

अपने स्वर्गीय अनुज सुखदेव को मैं खूब चिढ़ाता था। उनसे यही कहता रहता था, तुम खूव फँसे।

वात यह थी कि उनकी कोई रचना छपती थी तो कानाफूसी होने लगती थी। सब पाठकों का इस विषय में मतैक्य था कि असली लेखक हमारे अग्रज स्व० सुग्रीव जी थे; सुखदेव केवल अपने हस्ताक्षर देते थे। सन्देह और भी वढ़ा, जब वे फ्रेंच-कविता रचने लगे। सुग्रीव ने कभी फ्रेंच में पत्रों के लिए लेख या कविता लिखी ही नहीं थी। वे तो ट्रेनिंग कॉलेज में वैठे-वैठे 'सत्यार्थप्रकाश' का सार लिखते रहे थे। एक वार 'राजिकाल' के लिए भी लेख लिखा। जव एक आर्य संस्था के मन्त्री हुए 'आर्य पत्रिका' के लिए अंग्रेजी ही का प्रयोग करके लेख लिखते रहे।

सुखदेव मुझसे छोटे थे। हम दोनों से सुग्रीव वड़े थे। अन्तर दो-तीन वर्षों का था। सुग्रीव मुझसे दो साल वड़े थे, जवकि सुखदेव मुझसे दो-ढाई साल छोटे थे।

सुग्रीव सात वर्ष की अवस्था के थे जव मुझे साथ लेकर रोजिल की एक इमदादी पाठशाला में पढ़ने जाते थे। वे कुशाग्रबुद्धि थे। जिस पुराने घर में आज विष्णुदयाल परिवार रहता है उसमें उन्होंने एक प्रकार का ट्रेनिंग कॉलेज खोल रखा था। उनके शिष्य देश-भर के स्कूलों में अध्यापन करते थे। वे १९३६ में चल वसे जव ३५ वर्ष की अवस्था के थे।

उन्होंने अपनी जवानी में जो कीर्ति उपार्जित की, उसने मेरा कार्य सुगम कर दिया। जव मैं देश का दौरा करने लगा तो मुझे सर्वत्र स्वागत

करने वाले मित्र मिले। सुग्रीव को आधार रखने वालों में सम्मिलित किया जा सकता है। कई लोग इस संसार से कूच करने से पहले जान नहीं पाते कि उनकी ओर से औरों के लिए कैसा कार्यक्षेत्र तैयार किया गया।

'ट्रेनिंग कॉलेज' जीवित रखने का श्रेय सुखदेव को था। सुग्रीव के गुजरने पर उन्होंने रिक्त स्थान को भर दिया। मैं एक दिन क्रुद्ध होकर कह उठा—'भारत लौटूंगा।' उस क्षण सुखदेव की दशा दयनीय हो गयी थी। मैं रह-रहकर उस दृश्य का स्मरण करके अपने को कोसता रहा हूँ। ऐसे व्यक्ति के साथ सद्व्यवहार ही करना चाहिए था। उनके प्राण लेने का कुत्सित कृत्य करना मानवोचित नहीं बताया जा सकता।

साहित्यसेवी 'लेसोर' नाम की पत्रिका चलाते थे जिसका स्तर ऊँचा था; सुखदेव की कविता इसमें छपी। कवि न सुग्रीव थे और न ही मैं हूँ।

लाहौर से जब मैं सन् १९३७ में कलकत्ता आया और वहाँ के सुप्रसिद्ध विश्वविद्यालय की स्नातकोत्तर कक्षा का छात्र बना तो महानगर के कुछ हिन्दी-भाषी निवासियों ने बार-बार मुझसे कविता रचने का आग्रह किया। मैंने दो-तीन कविताएँ लिखीं, पर उन्हें प्रकाशित करने का साहस मुझमें न रहा। वे कविताएँ मेरे साथ थीं। न जाने कैसे संगीत-समाज के मन्त्री स्व० प्रदुमन को पता लगा कि मैंने कुछ 'गाने' लिखे हैं। उन्होंने एक को खूब गाया। संगीत-समाज के अन्य सदस्य 'ब्रह्मानन्द भजनमाला' में उस गाने को ढूँढ़ने लगे जहाँ वह मिल ही नहीं सकता था।

हिन्दी-कविता तो प्रेरणा पाकर मैं लिख दिया करता था, पर ऐसी फ्रेंच-कविता जो लब्धप्रतिष्ठ पत्रिका में स्थान पा सके, कैसे लिखता!

१९३९ में सुग्रीव के देहावसान के पाँच मास पश्चात् मैं लौट आया। तब जितने भी सुखदेव के लेख प्रकाशित हुए, उन सबका मुझे ही लेखक बताया जाता था।

कहना न होगा कि अटकल गलत थी। मैं ज्यों ही लौटा एमान्येल-आँकचिल नाम के जनसेवक ने मजदूर दल की ओर से 'मॉरीशसीय जनता' नामक पत्र निकालना शुरू किया। सुखदेव ने उन्हें वचन दिया था कि हर सप्ताह वे उन्हें दो लेख देंगे। वे फ्रेंच प्रयुक्त करते थे। ६ साल इस भाषा

से मैंने काम लिया न था। कम-से-कम इसे बोलता न था, अतः बोलने का अभ्यास न रहा। साथ-साथ लिखने की भी शक्ति न्यून हो गयी थी। लेख तत्कालीन श्रमिकों की अवस्था पर थे जिससे मैं उस समय अनभिज्ञ था। उन लेखों से मेरा सम्बन्ध कैसे हो सकता था?

सुखदेव कहानीकार भी थे। जब बैरिस्टर रामखेलावन बुधन हमारे पूर्वजों के आगमन की शती का आयोजन कर रहे थे, सुखदेव की कई कहानियाँ छपी थीं। उन्होंने यहाँ की पत्रिकाओं की कतरनें लाहौर भेजी थीं। मैं बार बार कहानियों को पढ़कर उन व्यक्तियों को पहचान लेता था जिनकी ओर उनका संकेत था। हमारे अग्रज कहानीकार न थे। मुझे कहानी लिखकर सुदूर लाहौर से भेजने की चिन्ता क्योंकर होती? लाहौर के 'निर्झर' नामक पत्र में मेरी एक कहानी ज़रूर छपी, किन्तु वह हिन्दी कहानी थी। वह उक्त पत्रिका के १९३४-३५ यानी दिसम्बर-जनवरी के अंक में छपा था।

मेरे अनुज को अपने मित्रों में बहस करने की आदत थी। वे बहुत पुस्तकें पढ़ते थे। उन्होंने सूक्तियों का एक संग्रह किया था। नियमित रूप से सभा में बहस करना हम अग्रजों को आता था। सुखदेव वाग्वर्द्धिनी में आते तो थे, किन्तु भाषण नहीं देते थे।

रॉयल कॉलेज के जो छात्र अप्रवासी थे यानी जिन्होंने अपने धर्म को तिलांजलि न दी थी, अपनी योग्यता पर गर्व करते थे। सुग्रीव जो उक्त कॉलेज के छात्र न रहे, उन्हें मुँहतोड़ उत्तर देने में कुशल थे जिससे उन्हें भी स्वाध्याय करना पड़ता था।

शनिवार को सुखदेव मुझसे कुछ शब्दों के अर्थ बताने को कहते थे और मैं भी उनसे कठिन-से-कठिन शब्दों के अर्थ बताने को कहता था। इस तरह हम दोनों का शब्द-भण्डार बढ़ गया। भारत में जब मैं बम्बई से जहाज में स्वदेश लौट रहा था, मैंने ऐसा ही खेल जारी किया था। इसके फलस्वरूप दो सहयात्रियों के शब्द-भण्डार में नये हिन्दी शब्द आये। यह खेल वास्तव में मनोरंजक है। मेरे जानने में हिन्दी की समृद्धि के लिए प्रथम बार इस प्रकार का प्रयास हुआ है। मैं मित्रों से कहता था कोई भी फ्रेंच-शब्द

बताइए और मैं उसका हिन्दी में उल्थ कर दूंगा ।

वह समय भी आया जब स्कूल-विभाग से सुखदेव का सम्बन्ध-विच्छेद हुआ । उस जमाने के बड़े नेता डा० मिल्यें उनके द्वारा आयोजित मीटिंगों में शरीक ही नहीं होते थे, अपितु भाषण भी देते थे । डॉ० क्यूरे भी उनके साथ एक मंच पर साथ बैठकर बोलते थे । मीटिंगों के युग में गलतफहमी दूर हुई ।

धारासभा में वे जो कहते थे, वह पत्रों में छपता था । साथ-साथ उनके भाषणों को सुनने के उद्देश्य से लोग धारासभा के भवन में पधारते थे । हाजिरजवाबी में भी वे किसी से पीछे न थे । वे उनमें से थे जो एक ओर देश की परिस्थिति से पूर्ण परिचित थे और दूसरी ओर जिनका भाषा पर पूरा अधिकार था; ऐसे वाक्य बोलते थे जो अविस्मरणीय बन गये । हमारे 'हंसार्ड' या उस पुस्तिका में जहाँ सदन में दिये गये भाषण छपते हैं, उनके लाखों शब्द सुरक्षित हैं ।

उनके राजनीतिक क्षेत्र में उतरने से हम मॉरीशसियों का शब्द-भण्डार बढ़ा । उनसे सहमत न होने वाले व्यक्ति भी मानते थे कि 'सत्याग्रह' शब्द का उन्होंने १९४३ में प्रचलन किया तो १९६१ में 'लोकायुक्त' या 'ओम्बुद्स्मन' का ।

वे कर्मठ सेवक थे । बाल्यावस्था में ही वे ऐसा कदम उठाते थे जो अति शीघ्र स्वस्थ परिवर्तन लाने में सफल होता था ।

श्री मोहनलाल मोहित ने अपने आर्यसमाज के इतिहास में विष्णुदयाल परिवार के रोज़िल-प्रवास पर थोड़ा-सा प्रकाश डालने की कृपा की है । ईसाई बनाये जाने से सुग्रीव और मैं, हम दो बड़े भाई बाल-बाल बचे । यही कारण है कि हम परिवर्तन लाने में कुछ देर करते थे । हम अग्रजों को इस बात का डर था कि कहीं उसी प्रकार का परिवर्तन न हो जिस प्रकार का होने वाला था जब हम हिन्दू रहने वाले न थे ।

आर्यसमाज के साहित्य का तब स्वागत किया जा रहा था जब हम प्राथमिक पाठशाला के छात्र थे ।

हमारे पितामह ने हस्तलिखित ग्रन्थ विगत शती में तैयार किया था

ग्रौर उनके पुत्र या हमारे पिता रामायण-प्रेमी थे। धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन होता था। जो पण्डित पोर्ट लुई में हमारे घर के पुरोहित थे, वे कुछ दिनों के लिए ग्रार्यसमाज के सदस्य रह चुके थे। उन्हें भली-भाँति ज्ञात था कि ग्रार्यसमाज किन बातों में सुधार लाने पर तुला था। हम बालकों को कभी-कभी भोजपुरी में इस सम्बन्ध में एक-दो शब्द कह दिया करते थे। कदाचित् उन्हें जता दिया गया होगा कि यदि हमारी दादी न होती जिन्हें मेरी माता का समर्थन प्राप्त था, तो हम दो बड़े भाई १९११ में ईसाई बना दिये गये होते। हिन्दी तो पढ़ न पाते थे। शाम को 'मॉरीशस इण्डियन टाइम्स' को प्राप्त कर उसमें दिये गये समाचार जो फ्रेंच में होते थे, वे पढ़ लेते थे। पण्डित महोदय से यह बात छिपी न थी। उन्होंने कहा, तुम कभी-कभी जाकोल्यो (Jacolliot) को पढ़ो। क्या मॉरीशसियों को विदित है कि स्वामी मंगलानन्द पुरी की 'ग्रफ्रीका यात्रा' में मॉरीशस का इतिहास सम्मिलित किया गया है जिसमें उक्त पण्डित का नाम तक ग्राता है ?

जाकोल्यो फ्रेंच भारत में सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश थे। उन्होंने भारत-विषयक ग्रनेक ग्रन्थ लिखे थे जिनमें से एक 'भारत में बाइबल' नाम वाली प्रसिद्ध पुस्तक है। यह १८६८ में प्रकाशित हुई ग्रौर यहाँ ग्राई। उसी साल ऋषि दयानन्द के गुरु स्वामी विरजानन्द का देहावसान हुग्रा। जाकोल्यो की यह किताब ही नहीं, उनके कई ग्रन्य ग्रन्थ भी पोर्ट लुई की महापालिका के पुस्तकालय में हैं। हम पुस्तकालय में तब जाने लगे जब ग्रध्यापक हो गये। 'बाइबल इन इण्डिया' ग्रौर 'सत्यार्थप्रकाश' में जो साम्य है वह पुस्तक के प्रथम पृष्ठों का ग्रवलोकन करते ही दीखता है। पण्डितजी के कथन का यही ग्राशय था कि जो हिन्दू ग्रपने धर्म को तिलांजलि न देना चाहे, वह जाकोल्यो का ग्रन्थ ग्रवश्य पढ़े।

जाकोल्यो पढ़ने से कहीं पहले सुखदेव सुधार लाने लगे। हम दो ग्रग्रज किंकर्तव्यविमूढ़ थे। भाइयों में प्रेम बना रहे, इसका बराबर खयाल था। सुखदेव से सहमत न होने पर भी हम उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया करते थे। इतिहासकार पं० ग्रात्माराम ने एक दिन उनसे कहा—तुम्हारा निर्णय हमें कँपा छोड़ता है, पर सब कोई ग्रन्ततः मानते हैं कि वह सही था।

त्राँकवार में एक वार रात्रि में आर्यों और सनातनियों में घमासान युद्ध हुआ। एक आर्य घायल हुए। सुखदेव ने कहा, अपनी जान खतरे में डालकर भी आहत साथी को वचावें। यह डर वना तो था कि पुलिस का मुकद्दमा हो और हम तीन दण्डित हों तो हमारी नौकरी न रहेगी, फिर भी सुखदेव की पुकार सुनकर हमने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। अन्त में नौकरी त्यागनी ही पड़ी। सुग्रीव ने वीमारी के कारण, मैंने ११ वर्ष अध्यापन करने पर और सुखदेव ने २२ साल सेवा करके अध्यापन करना छोड़ा।

आहत आर्य भाई कुछ दिन चारपाई पर पड़े रहे। वे दिन-रात सोच रहे थे कि मुकद्दमा जीत लेंगे तो अपराधी को उन्हें हजारों रुपये देने होंगे। सुग्रीव ने दस-पन्द्रह दिन लगातार उन्हें शनैः-शनैः समझाया कि गृहयुद्ध हुआ था, ताकि हिन्दू-हिन्दू के वीच ऐसा युद्ध फिर न हो, पैसे पाने की आशा छोड़ देनी चाहिए। तव जाकर उस आर्य मित्र ने मन के लड्डू खाना छोड़ा। स्कूल-विभाग में रहते हुए कदम-कदम पर हमें संघर्ष करना पड़ा। मेरे साथ इस विभाग ने पूरा न्याय न किया तो मैंने जाकर 'मॉरीशस इण्डियन टाइम्स' के प्रधान सम्पादक को सुनाया कि मेरे स्कूल में क्या हुआ। अगले दिन मेरा नाम लिये विना उन्होंने एक नोट में जताया कि एक छोटे अध्यापक के साथ ठीक उसी तरह अन्याय हुआ जिस तरह रिषांनो सरकारी पाठ-शाला के श्री रामशरण मोती के साथ हुआ। उन दिनों हम दो 'मास्टर' एक-दूसरे को न जानते थे। मोती नामक 'मास्टर' उस समय एक आर्य संस्था के प्रधान थे जव सुग्रीव मंत्री हो गये थे।

हम तीनों भाइयों का जन्म तायाक ग्राम में जिस घर में हुआ था, वह हमारे प्रपितामह ने आज से एक शती पूर्व वनवाया था। लगभग एक दशक पूर्व श्रीमती कुज़िनरी नाम की वृद्धा को स्मरण था कि घर के पीछे रेलगाड़ी चलती थी, घर के अहाते में एक टट्टू घास चरता हुआ दिखाई देता था। साथ-साथ एक ताँगा था। कुछ दूरी पर एक गौशाला थी। जो कुआँ था वह अव भी मौजूद है, परन्तु उससे जल निकालने की अव आवश्यकता नहीं रही। श्रीमती कुज़िनरी (Cousinery) वताती थी कि केवल यह घर मेरे पूर्वज की सम्पत्ति न थी, उसके आसपास और दूरी पर भी उनके घर थे;

जमीन तो थी ही।

मुझे इस घर के आँगन में (१९७८ में) उपनिषत्कथा सुनाने का अवसर दिया गया। उसके बारे में मुझे कुछ कहना था। मैंने बताया कि १०० साल पहले घर निर्मित हुआ। बीच में केवल टीन और लकड़ी बदली जाती थी। उसके पत्थर तो वैसे-के-वैसे रह गये हैं।

रह-रहकर मैं मन-ही-मन कहता रहता हूँ कि इसी प्रकार उपेक्षणीय विषयों में मतभेद होने पर भी सुदृढ़ पत्थरों के समान भातृप्रेम अन्तिम घड़ी तक कायम रहा। यदि भाइयों में मृत्युपर्यन्त प्रेम रह पावे तो बड़ी-से-बड़ी सेवा उनकी ओर से हो सकती है।

यहाँ आकर भान होने लगा कि इस अध्याय का कलेवर भीमकाय हो गया। अब क्या किया जाए? कथा की तिथि की विचित्रता को छिपाए रखना बुरा होगा।

कथा हुई थी दि० १४ फरवरी, १९७८ को। मेरे प्रपितामह बिस्नाथ-सिंह या विसुनदयाल का देहावसान उस घर में ता० १४ फरवरी को ही हुआ था (यद्यपि साल १९०४ था) जिसके सामने गद्दी बनी थी और जहाँ श्रोता बैठाये गये थे। मेरी प्रपितामही का स्वर्गवास विगत शती में ही सन् १८८४ में हो गया था। उनका नाम था विरंची या विरंज्या। बिस्नाथसिंह जी सागर और दौलतिया के पुत्र थे। उनके माता-पिता यहाँ नहीं आये। दम्पत्ति अर्थात् मेरे प्रपितामह और प्रपितामही फतेह सालन नाम के जहाज से १८६४ में पधारे थे। वे देशभक्त कुँवरसिंह की सेना के सैनिक थे, यह मुझे कहा गया है।

मेरे पितामह जहाँ सुग्रीव और मुझे अपनी गोद में लेते थे वहाँ सुखदेव को उन्होंने न देखा। उनका देहावसान दि० २३ नवम्बर, १९.६ को हुआ।

४२-४३ वर्ष तक मैंने बोलते वक्त एकमात्र मातृभाषा से काम लिया। हिन्दी से प्रेम करने वालों में मैं अकेला नहीं हूँ। मेरा यह सही अनुमान है कि इने-गिने ही लोग जानते हैं कि सुखदेव का हिन्दी पर भी अधिकार था। वे स्थानीय हिन्दी पत्रिकाओं में कहानियों के अतिरिक्त अपने लेख भी प्रकाशित करवाते थे। हस्तलिखित पत्रिका 'दुर्गा' में उनकी कहानी पायी

जाती है।

ग्रामीण मित्रों में से जो अप्रवासी और हिन्दी-भाषी हैं, उन्हें हिन्दी में ही पत्र लिखा करते थे।

कभी-कभी घर से निकलते वक्त मीटिंग में फ्रेंच का अपभ्रंश क्रिओल बोलने का संकल्प करने पर भी, यह देखकर कि पधारे हुए लोगों को हिन्दी अधिक अनुकूल पड़ेगी, वे अपने विचारों को सरल, शुद्ध और ग्राह्य हिन्दी में व्यक्त कर दिया करते थे।

प्रयाग के रामनारायण लाल वाले कोश से वह सन्तुष्ट न थे। जोर-शोर से हिन्दी का प्रचार हो रहा था। जब असंख्य युवक तथा युवतियाँ घर-घर में समझाते थे कि इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों में जो स्वर अन्त में होता है वह ह्रस्व होता है बशर्ते कि शब्द संस्कृत हो। 'साधु', 'मनु', 'कवि', 'ऋषि', 'मुनि'-जैसे शब्द उदाहरण के काम देते थे। इसके विपरीत, दीर्घ ई या ऊ उर्दू-शब्दों के अन्त में आती है, नियम समझाने वाला इतना जोर दिया करता था; उदाहरण के तौर पर 'हिन्दू', 'बाबू', 'आदमी', 'पानी' शब्द पेश किए जाते थे। इस नियम को समझकर सुखदेव इतने खुश हुए कि मानो उन्हें कुबेर का सारा धन मिल गया। वे भारतीय पत्रों के लेख पढ़कर, खास करके 'सरस्वती' के, उनमें से ऐसे शब्द ढूँढ़ निकालते थे और उनका वर्गीकरण करते थे। मुझसे एक दिन उन्होंने कहा, तेरा व्याकरण कभी लोकप्रिय हुआ तो खोलने के लिए कोई गुत्थी रहेगी ही नहीं।

घर में ५०-६० साल से वेदमन्त्रों के कई संग्रह पड़े हैं जिनमें से एक है 'वेदामृत', दूसरा 'वेद-सुधा'। इनको भी वे पढ़ने लगे। भाषाओं को व्यवहृत करते रहने के कारण उन्होंने उस मन्त्र को पसन्द किया जो वाणी के सम्बन्ध में है। उनका उत्साह बढ़ाने के विचार से मैंने वह मन्त्र जो निम्न प्रकार है, सुना दिया—

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत॥
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाची॥"

(ऋ० १०, ७१, २)

— जैसे छलनी से छानकर सत्तुओं को साफ किया जाता है ठीक उसी

प्रकार मन से, विचार-मनन के साधन से, वाणी को शुद्ध और पवित्र किया जाता है। जो वाणी को निर्मल बनाने में प्रयत्नशील हैं, उनकी वाणी में कल्याणी लक्ष्मी निहित होती है।"

यह बात लोगों से छिपी ही रही कि जो विद्यालयों की छोटी कक्षाओं के छात्र लेटिन लेते थे, वे उन्हें यह भाषा पढ़ाने में समर्थ थे। हमारे जमाने में स्वाध्यायशील अध्यापक कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय द्वारा जो परीक्षा की जाती थी उसमें बैठते थे। सुखदेव के कागजात में उनका 'जूनियर' (Junior) का प्रमाणपत्र पाया जाता है।

मेरे अग्रज के युग में हर सप्ताह कहीं-न-कहीं शास्त्रार्थ होता था। एक हिन्दू परिवार तेर रूज में रहता था जिसके यहाँ डॉ० जिरू पधारे हुए थे। वे 'आदवांचिस्त' सम्प्रदाय के पादरी थे। हम तीनों भाई वहाँ पहुँचे और सुग्रीव जी डॉक्टर साहब से बहस करने लगे।

एक दिन सुग्रीव चिन्ताग्रस्त हुए। उन्होंने कहा, "मुझे एक चुनौती दी गयी है।" मुझसे कहा गया, 'तुम वेदों से ऐसा मन्त्र निकालो जिसका मतलब यह हो कि परमात्मा ने वेद या वेदवाणी मनुष्य को दी है।' हम भोले-भाले प्राथमिक स्कूल के अध्यापक ऐसा वैदिक वचन कैसे खोज निकालते? प्रश्नकर्ता भी तो वेदवेत्ता न थे। उन्होंने भारत के किसी अखबार में पढ़ा था कि आर्योपदेशकों से यह सवाल किया गया था। मैं शास्त्रार्थों के विवरण पढ़ने लगा और मुझे अपने परिश्रम का फल प्राप्त हुआ। वह मन्त्र प्राप्त हुआ जो बृहस्पति के बारे से है और जिसमें कहा गया है कि वे (बृहस्पति) वाणी के प्रथम दाता हैं।

सुग्रीव को 'आर्यकुमार' के नाम से 'आर्यपत्रिका' में उत्तर देना था। उन्होंने बताया कि यह मन्त्र ऋग्वेद के दसवें मण्डल के सूक्त ७१ में पाया जाता है। उसके प्रथम शब्द हैं—

"बृहस्पते प्रथमं वाचः"

उन्होंने उक्त साप्ताहिक पत्र के ता० २७ सितम्बर, १६२६ के अंक में अपना लेख प्रकाशित करवाया। यह बात आधी शती से अधिक पुरानी है। हम तीनों के आनन्द की सीमा न रही। उस युग में सुखदेव ऐसा मन्त्र ढूँढ़

न पाते। वे सुग्रीव के एक अन्य शिष्य के समान हो न पाये थे।

प्राध्यापक सदाशिवन् सुग्रीव के शिष्य थे। वे मुझसे पहले भारत में विद्याध्ययनार्थ पहुँच गये थे। वे स्वामी विज्ञानानन्द के साथ लाहौर पधारे थे।

उनमें सुग्रीव की तरह उत्तमोत्तम ग्रन्थों को ढूंढ़कर पढ़ने की आदत थी। मैंने पंजाब विश्वविद्यालय से पत्राचार करके मॉरीशस में आयोजित अध्यापकों की परीक्षा को मान्यता दिलवाई थी। इससे मुझे ही नहीं, हमारे उक्त देशवासी को भी लाभ हुआ। वे मेरा सत्परामर्श स्वीकार करते थे। मैंने उन्हें बी० ए०, एम० ए० आदि की परीक्षा देने का सुझाव दिया। जब वे सफल होने लगे तो अमृतसर के प्रसिद्ध खालसा कॉलेज में फ्रेंच पढ़ाने लगे। सुग्रीव ही की तरह उन्होंने अपने छात्रों को परिश्रम करना सिखाया। वे एक सफल प्राध्यापक रहे। उन्होंने अमृतसर के Ripon Printing नामक मुद्रणालय में एक चार्ट छपवाया जिसे बार-बार देखकर भारतीय छात्र भी फ्रेंच-क्रियाओं का प्रयोग करने लगे। साथ-ही-साथ उनके अंग्रेजी का भी ज्ञान किसी सीमा तक बढ़ा।

यहाँ लौट आने पर मैंने उन्हें बड़ी-बड़ी पत्रिकाओं के लिए लेख लिखने की प्रेरणा दी। उनका प्रथम लेख विख्यात भारतीय पत्रिका 'मॉडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने चुने हुए शब्दों में मॉरीशसीय गुरु सुग्रीव को श्रद्धांजलि अर्पित की। सुग्रीव के देहान्त के पश्चात् इस पत्रिका में उन की संक्षिप्त जीवनी आई तो सुखदेव के देहावसान के बाद उनके बारे में श्री राजमन राधाकृष्ण द्वारा लिखे गये लेख दिल्ली में 'मधुर लोक' तथा उसी महानगर के पुराने पत्र 'जीवन-साहित्य' में आये।

बम्बई की तत्कालीन पत्रिका 'ले कुरिये देजेन्द' में भी सदाशिवन् जी का लेख छपा जो फ्रेंच साहित्य सम्बन्धी था। उस लेख का शीर्षक था, 'लामार्चिन का धर्म'। फ्रांस की जगद्विख्यात पत्रिका 'फ्रांस आज़ी' में मेरे बहुत-से लेख छप गये। जब उन्होंने भी एक लेख लिखा तो उस पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इस लेख से पता चलता है कि उन्होंने संस्कृत का अच्छी तरह से अध्ययन किया था।

तब सुग्रीव के शिष्यों में केवल सुखदेव लेखक नहीं बने थे।

मैंने १६४६ में कुशाग्रबुद्धि तरुण स्व० व्रजनाथ माधव वाजपेयी को स्वा० भवानीदयाल तथा प्रा० सदाशिवन् से मिलने का आग्रह किया था। वे जब अमृतसर पधारे तो मित्रवर सदाशिवन् ने उनका स्वागत किया। वाजपेयी जी ने उन्हें ताजा समाचार दिया कि आपके गुरु सुग्रीव के सबसे छोटे भाई सुखदेव ने भी मॉरीशस के लेखकों में अपना स्थान बना लिया हैं। प्राध्यापक महोदय का यह मत स्थिर हो गया था कि सुग्रीव का प्रभाव उनके अनुजों पर पड़े विना रह ही नहीं सकता था। उनके हृदय में अपने गुरु के लिए भक्ति थी। वे कहा करते थे कि श्री सुग्रीव जी सधे हुए विचारों के व्यक्ति हैं।

आजकल परीक्षार्थी Hinduism विषय लेकर परीक्षा देने लगे हैं। प्रश्न-पत्र कैम्ब्रिज से आते हैं। युवक और युवतियाँ जान गये हैं कि हिन्दू धर्म को मानने वाले के हृदय में अपने गुरु के लिए भक्ति होनी ही चाहिए। तब इस शिष्य को हिन्दू बताने में किसी को हिचकिचाहट कैसे होगी !

उक्त विलायती विश्वविद्यालय ने पाठ्यक्रम में श्वेताश्वतरोपनिषत् सम्मिलित किया है, जिसके अन्तिम शब्द ये हैं—"जिसकी गुरु में भक्ति है उस पुरुष के हृदय में, बताये हुए रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं।"

पिछले दिनों सुखदेव ऋषि दयानन्द के दो बड़े जीवन-चरित पढ़ रहे थे। उन्होंने एक दिन कहा कि 'दयानन्द-प्रकाश' की भूमिका सन्तोष दे सकती है; उस पुस्तक की भाषा प्रांजल है जबकि श्री देवेन्द्रनाथ ने जो जीवन-चरित रचा है उसकी भाषा कुछ कमजोर दीख पड़ती है। मैंने भेद खोलकर समझाया कि देवेन्द्र बाबू की मातृभाषा बंगाली थी; जो हिन्दी-ग्रन्थ हमें मिला वह उनकी कृति का हिन्दी-रूपान्तर है। ऐसी जीवनी जिसमें ऋषि की देन पर प्रचुर मात्रा में प्रकाश डाला गया हो, पाने की उनमें उत्कृष्ट इच्छा थी। वे निराश हुए जब उन्हें ज्ञात हुआ कि ऐसा ग्रन्थ महात्मा गांधी के विषय में तो विद्यमान है, ऋषि के सम्बन्ध में कदाचित् ही रचा जाये। उनकी युवा पीढ़ी से यही प्रार्थना थी कि महात्मा जी का 'सम्पूर्ण वाङ्मय' पढ़ा जाये। इस महद् ग्रन्थ के ६० खण्ड होंगे।

जो भाई सुखदेव से टक्कर लेते थे वे कहाँ जान सकते थे कि ये हँसोड़ भी थे ! हम बड़े भाई पिताजी की कमजोरी को चर्चा का विषय न बनाते थे, लेकिन सुखदेव को सब-कुछ करने की छूट थी। हाँ, वे मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते थे।

पिताजी सम्पन्न परिवार के थे। पौष्टिक भोजन से वे कभी वंचित न रहे। साथ-साथ वे दीर्घजीवी माता के पुत्र थे। दादी जी का देहान्त तब हुआ जब वे ८६ वर्ष की उम्र की थीं। पिताजी को इस बात का गर्व था कि उनके समवयस्क उनकी भुजा झुकाने की शक्ति न रखते थे।

तायाक के जिस १००-वर्षीय घर में हम तीन भाइयों का जन्म हुआ उसीमें पिताजी का भी हुआ था। मेरी स्व० ८४-वर्षीया फूफी बताती थी कि पान के पौधे जो घर के आँगन में थे वे अब भी मौजूद हैं। १९७८ में मैंने वे पौधे देखे। जिस वृद्धा माता का वह अब घर बन गया है उन्होंने मुझे मोटरगाड़ी से उतरते देखा तो निकट आकर अभिवादन किया और कहा, "यह घर, जिसे आपके परदादा ने निर्मित किया था, अब भी आपका है।"

१९१० में परिवार के ६ व्यक्ति उस घर से निकले थे और पोर्ट लुई आये थे। माताजी का स्वर्गवास काँ ज्योलोफ में १९१९ में हुआ; पिताजी का पं० गयासिंह गली के एक घर पर १९२७ में; सुग्रीव का उस घर पर जहाँ हम अभी रहते हैं १९३९ में; दादीजी का वहीं १९५६ में और सुखदेव का १९७७ में वहीं। तायाक से जो ६ व्यक्ति चल पड़े थे उनमें से मैं आज अकेला रह गया हूँ।

पिताजी की बीमारी खूब फैली थी। निकोले रोड में जो पं० राम-स्वार्थ अन्तिम घड़ी तक रहे थे, वे तायाक में ही उनके सखा हो गये थे। वृद्धावस्था में भी पण्डितजी किसी से प्लेन वेर्त बाग में बातचीत करते थे तो अचानक कहते थे, मेरी भुजा झुका दो तो जानूंगा कि तू मर्द है !

पण्डितजी तथा पिताजी का स्वर्गवास हो गया था जब स्वामी दयानन्द की जीवनी में सुखदेव को यह स्थल मिला :

"जिस साल आर्यसमाज की स्थापना हुई, स्वामी जी रुड़की में ब्रह्मचर्य पर उपदेश दे रहे थे। उन्होंने बाँह उठाकर घोषणा की कि, 'चाहे मैं इस

समय ५० वर्ष का हूँ, कोई मेरी इस दायीं भुजा को झुकाकर दिखा दें !"

उस दिन सुखदेव आनन्दविभोर हो उठे। उनकी टिप्पणी थी कि महर्षि तो बाल ब्रह्मचारी थे। वे दो आदमियों को परास्त कर सकते थे। उनके विषय में यह कहना सही है कि वे बलवान् थे। क्या भुजा झुकाने की चुनौती भारत में भी दी जाती थी ? यह था उनका प्रश्न।

सुखदेव एक जन्मजात अध्यापक थे जो अन्याय को होते देखकर व्याकुल हो उठते थे। इसी कारण उन्होंने स्कूल-विभाग से सम्बन्ध-विच्छेद किया और वे राजनीति के क्षेत्र में कूद पड़े।

मेरे भारत गमन से पूर्व हम तीन भाइयों का यही निर्णय था कि तीनों में से कोई भी भारत-यात्रा कर सकता है क्योंकि तीनों की रुचि एक थी। धर्म को राजनीति से अलग किया नहीं जा सकता, यह तीनों का मत रहा।

सुखदेव और सुग्रीव एक ही सरकारी पाठशाला में अध्यापन करते थे। इस चिरकाल के सहवास के कारण वे एक-दूसरे को छोड़ नहीं सकते थे। फ़ैसला यही हुआ कि मुझे लाहौर भेजा जाये।

मैं फ्लाक के सेंजिल्यें ग्राम में सोमवार से शुक्रवार तक सप्ताह के पाँच दिन रहता था। घर लौटने की आतुरता थी। मैं कब घर पहुँचूं, बस हर घड़ी यही चिन्ता रहती। फ्रांस से रोमाँ रोला की किताब आई है, विलायत से मैक्समूलर के भारत-विषयक ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं या भारत से पं० गुरुदत्त की कोई बड़ी या छोटी पुस्तक मिली है, यह सुनाकर दोनों भाई मुझे खुश करते थे। जब आधे घण्टे की भी देरी हो जाती तो वे अखबारों को उठाकर देखते थे कि कहीं जंगी जहाज के खिलाड़ी सैन्यावास में खेल तो नहीं रहे हैं ? टिकट खरीदना नहीं पड़ता था। खेल के बीच ज्योंही घर याद आता था, मैं सैन्यावास से निकलकर तेजी से चलने लगता था।

२९ दिसम्बर, १९२४ को दिन-भर वर्षा होती रही। मैं पोर्ट लुई के एक मुस्लिम इमदादी स्कूल में अध्यापन कर रहा था। स्कूल जाना जरूरी था क्योंकि परीक्षा होने वाली थी। परीक्षक थे सर्वश्री क्रायटन, पाव्लो तथा पुजेत। पुजेत ही के पुत्र चिरकाल तक सरकारी कॉलेज के प्रिंसिपल रहे। पौने ६ बजे तक परीक्षा होती रही।

उन दिनों क्या अध्यापक, क्या परीक्षक, सभी परिश्रमी थे।

उस दिन घर पर लोग बेचैन थे। सुग्रीव ने डायरी में लिखा, "वासुदेव आज सायंकाल साढ़े छः बजे लौटा है।"

उस रोज भी बेचैनी थी। डायरी रखी गयी न होती तो मैं इतना अध्याय लिख न पाता।

कोर्दरी गली से चलकर मुझे उस स्थान पर आना था जहाँ हमारा घर है। पहले आल्वियों डॉक के स्टेशन के सामने आना होता था जहाँ विष्णु-दयाल-परिवार १९२१ से १९२४ के समाप्त होने से कुछ पूर्व रहता था। वहीं सुग्रीव ने तीनों परीक्षाओं की तैयारी की थी और सुखदेव ने एक की। सुग्रीव के साथ मैं भी तैयारी करता था।

हमारे आयोजनों की विचित्रता भी अपने ढंग की थी। अध्यापक हो जाने पर भी हमने इस लघु देश के सब नगर और मुख्य ग्राम न देखे थे। और तो और, पोर्ट लुई में हम ११ साल बिता चुके थे, फिर भी हमने त्रांकबार न देखा था। हारुन अलिमान नाम के पड़ोसी को साथ लेकर, जो हमारे समवयस्क थे, हम शाँ दे मार्स घुड़दौड़ देखने आते थे। हम चाहते तो दो मिनट में त्रांकबार पहुँच जाते। अपने निधन से कुछ साल पहले ये मित्र हम दोनों से मिलने आये। वे कहने लगे, हम चार मित्र पिछली घुड़दौड़ के दिन देख रहे थे कि कुछ व्यक्तियों के साथ, जो आप्रवासी थे, बुरा व्यवहार किया जा रहा था। आप तीनों में से किसी ने कहा, एक दिन यह खेल बन्द होगा। यह बात न मुझे याद थी और न सुखदेव को ही। सुग्रीव का देहा-वसान हो चुका था। हमारे दोस्त भी कह न पाये कि हम तीनों में से किसने यह भविष्यवाणी की थी। आज मैं अकेला हूँ। मित्र और अमित्र मानेंगे कि यह वाक्य किसी भी एक के मुख से निकल सकता था क्योंकि हमारी विचार-धारा एक थी। 'खेल' १९४७ में बन्द हुआ जब मैंने एक घुड़दौड़-विशेष के विरुद्ध सत्याग्रह करवाना आरम्भ किया।

जब छुट्टी मिलती थी तो हम अपने आयोजन के अनुसार किसी मित्र के यहाँ कात्र्यें मिलितेर में जाकर रात बिताते थे तो कभी कहीं ग्राँ पोर में किसी सम्बन्धी के यहाँ। कई लोगों की दृष्टि में हम अकारण ही यात्रा करते

थे। लोगों की केवल विवाहोत्सव के अवसर पर या जीने-मरने पर कहीं जाने की आदत थी, किन्तु हम वन्धु-वान्धवों, मित्रों-पड़ोसियों से आग्रह किया करते थे कि कहीं सभा लगी हुई हो तो उसमें अच्छी संख्या में शरीक हों। विचार-विनिमय तथा साहित्य-प्रचार में लोगों की रुचि हो, हम यह देखने को उत्सुक थे।

इस अध्याय का उचित शीर्षक 'मेरे अनुज और अग्रज' ही हो सकता है। मैं एक को दूसरे से अलग करने में असमर्थ हूँ।

मैं वीच में पड़ा था। सुग्रीव के साथ परीक्षा देता रहा। सुग्रीव अनुत्तीर्ण होना जानते न थे। मैंने उनके साथ अन्तिम परीक्षा दी थी। परीक्षा १६२४ में दी गयी थी। परीक्षा उसी वैस्टर्न सवर्व के स्कूल में होती थी जहाँ १६१७ में मैं छात्र वनकर तीन मास पढ़ता रहा और जिसके सुग्रीव और सुखदेव क्रमशः १६३५ तथा १६४४ तक अध्यापक थे। एक दिन पुराने रजिस्टर जलाये जा रहे थे जवकि इन दोनों ने मेरा नाम किसी एक में पाया था। वात पुरानी है, ६५ वर्ष पूर्व की। मेरे अग्रज इस देश के प्रथम ट्रेनिंग कॉलेज के छात्र थे। १६७८ में इस विद्यालय का नाम वदल गया जिस तरह १६२३ में ट्रेनिंग स्कूल का नाम वदल गया था। १६२४ में जहाँ सुग्रीव ने सफल परीक्षार्थियों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया, वहाँ मैं भी कोई निचला दर्जा लेकर उत्तीर्ण हुआ था। परीक्षाफल मुझे ही पहले ज्ञात हुआ था। प्रथम ट्रेनिंग कॉलेज फ़ॉरेस्ट साइड में था। सुग्रीव वहाँ से रेलगाड़ी द्वारा शाम को लौट आया करते थे। मेरी नज़र एक दैनिक अखवार पर पड़ी जिसमें परीक्षोत्तीर्ण अध्यापकों के नाम दिये गये थे। वे दिन सचमुच सुखद थे। सफल परीक्षार्थियों के नाम सव दैनिक पत्रों में ही नहीं, सव साप्ताहिक पत्रों में भी दिये जाते थे। सुग्रीव के नाम के स्थान पर किसी दूसरे का नाम गलती से दिया गया था। चिन्तित होकर मैं स्टेशन पर पहुँचा। सुग्रीव से मिलकर कहने लगा, देखो इस अखवार ने गलत खवर दी है। वे कुछ घवरा गये। तव मैंने उन्हें एक-एक विषय में उनको कितने अंक मिले, वह वतलाया।

उनमें भी विचित्रता का अभाव न था। रास्ते में उन्होंने गर्व से कहा

कि 'एक विषय में तुमने ३०० अंकों में से २८८ ले लिये जबकि मुझे २७० ही मिले।' मैंने सफाई दी और समझाया कि 'यह विषय दिन में कॉलेज में पढ़ते थे और रात में आप मुझे समझाते थे; गुरु गुड़ ही रहे, चेले चीनी हो गये! मैंने प्रश्नों के उत्तर देते वक्त अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया जबकि तुम जानते थे कि प्रथम स्थान तुम्हारे लिए तो नियत ही है, कम ध्यान दिया जाये तो भी कोई फर्क पड़ेगा नहीं।' अति प्रसन्न होकर उन्होंने कहा कि 'किसी दूसरे विषय में तुमने सौ प्रतिशत अंक ले लिये और किसी तीसरे में १०० में से ८५ जबकि मुझे क्रमशः ७३ और ६९ ही मिल पाये।' मैंने हँसकर कहा, 'मेरी योग्यता की इतिश्री यहीं हो जाती है।' अन्य विषयों में उन्होंने मुझे ऐसा पीटा कि मेरा कचूमर निकल गया। विषय एक-दो नहीं, ११-१२ थे। दो-तीन मिनट ठहरकर उन्होंने प्यार से कहा, 'यदि तूने कभी सब विषयों पर पूरा ध्यान दिया तो कमाल कर देगा।' यह आशीर्वाद न था तो क्या था?

पाये गये अंक भी बतला दूं—

| | सुग्रीव | वासुदेव |
|---|---|---|
| English | 143 | 122 |
| French | 151 | 132 |
| School Management | 270 | 288 |
| Penmanship | 47 | 44 |
| Arithmetic | 175 | 165 |
| Geography | 103 | 76 |
| English History | 30 | 15 |
| French History | 43 | 38 |
| Drawing | 73 | 100 |
| Geometry | 69 | 85 |
| Algebra | 73 | 66 |
| Hygiene | 90 | 99 |
| | 1267 | 1220 |

उसी वर्ष Hygiene में सुखदेव को 64 अंक प्राप्त हुए थे और वे अध्यापकों की प्रथम परीक्षा में उत्तीर्ण हुए थे।

अब लग रहा है कि इस अध्याय का सबसे अच्छा शीर्षक है, 'मेरे अग्रज, अनुज और मैं!'

हम बातचीत करते थे तो प्रायः परीक्षा, योग्यता, मनोयोग, ग्रन्थ, धर्म, सुधार, न्याय हमारी चर्चा के विषय होते थे। कुटिल मार्ग से चलकर हमसे अन्य लोग बड़े-बड़े पद पाते थे जबकि वे उनके योग्य न थे।

मैं सेंज़िल्यें में ही था जब लोगों को न जाने कैसे पता चला था कि मैं उर्दू सीखने लग गया था। मुझसे सर्वोच्च न्यायालय का दुभाषिया बनाने का प्रस्ताव किया गया किन्तु यह जानकर कि टेढ़े रास्ते से चलकर यह प्राप्त होगा मैंने उसे लेना नामंजूर किया।

मेरी तरह आरम्भ से ही सुखदेव भी सब विषयों पर पूरा ध्यान नहीं देते थे। कभी सुग्रीव को सुखदेव की ओर से शिकायत होती थी तो कभी सुखदेव सुनाते थे कि सुग्रीव ने उसे झकझोरा। मैं वह शिष्य था जो पठित सामग्री के दोहराये जाने पर पाठ समझ लेता था। सुखदेव तो घर पर खोले गये 'ट्रेनिंग कॉलेज' के छात्र थे जो और छात्रों के साथ बैठते थे। सुग्रीव की यह शिकायत होती थी कि सुखदेव लेक्चरों को सुनते तो थे सही, लेकिन कभी-कभी अन्यमनस्क हो जाते थे। शिकायत 'दण्डनीय' कृत्य करने वाले भाई की उपस्थिति में होती थी। अनुशासन रहे, फिर चाहे एक ही परिवार के सदस्यों तक सीमित हो, यह उस युग की माँग थी।

मुझे कभी खबर मिली कि सुखदेव लहूलुहान होकर अस्पताल पहुँचे तो कभी समाचार प्राप्त हुआ कि कुछ क्षण के लिए धारासभा में बोल न पाये। आज से ४०-५० साल पहले दानी देवीदीन रितु शहर आये हुए थे जब गली-गली में लोग कहते थे कि मोका स्ट्रीट सरकारी स्कूल के एक युवा अध्यापक को पुलिस ने सैन्यावास में गिरफ्तार किया। सेंज़िल्यें लौटते ही उन्होंने इसकी चर्चा की। उन दिनों ज़ेरार नामक पुलिस अफसर का दबदबा था। उन्होंने ही सुखदेव को नज़रबन्द किया था। ऐसे संकट काल में ऋग्वेद के ये शब्द मुझे सान्त्वना देते रहे थे——

"तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन् ।"—१, १६३, ११

—"हे आत्मन् ! तेरा शरीर पतनशील, विनाशवान् है ।"

सुग्रीव का सहाध्यायी होने के कारण मैं उनसे अपेक्षाकृत निकटतर रहा। यह हालत २७ वर्ष बनी रही। मित्रगण मुझे पहुँचाने के लिए १६३२ में जहाज पर पधारे हुए थे जब अन्तिम घड़ी में सुग्रीव के नेत्र सजल हो गये। उन्हें भान होगा कि हम दोनों इस जीवन में फिर मिलेंगे नहीं। १६३६ से लेकर ३८ वर्ष मैं सुखदेव से अलग न रहा। मैं ६५ वर्ष असंख्य वार इन शब्दों को दोहराता रहा—

"खूब गुजरेगी जो मिल बैठेंगे दीवाने दो।"

हमारे स्वतन्त्र देश में कितने लोग होंगे जो जानते होंगे कि श्री अरविंद आश्रम, पाण्डिचेरी से चिरकाल तक सम्बन्धित माताजी का जन्म १८७८ में अर्थात् स्वामी विरजानन्द के जन्म के ठीक १०० वर्ष पश्चात् हुआ था और उनकी जन्मशती हो गयी है ?* उनके ये वाक्य सुखदेव के निधन की ओर हमारा ध्यान सहसा खींचते हैं—

"कुछ लोग जीते हुए भी मुरदे हैं।
कुछ मरे हुए भी जिन्दा हैं।"

---

*Mirra Alfassa was born on 21-2-1878 in Paris to wealthy parents. She first came to India in 1914. Here she joined forces with Sri Aurobindo whom she accepted as her Guru. It was because of her untiring effort that Sri Aurobindo Ashram was set up at Pondicherry. There in course of time she became the Mother to the inmates. She was optimistic and believed that India would before long regain her true place in the world.

—Amrita Bazar Patrika
26-2-1978

# ऐसे थे सुखदेव जी

—दया कन्हाई

मैं तायाक ग्राम का निवासी हूँ। सुखदेव जी का ज्यों ही देहान्त हुआ, देश को मालूम हुआ कि उनका जन्म इस प्राचीन ग्राम में हुआ था।

वैसे तो सब तायाकवासी उन्हें अपना सम्बन्धी समझते आये हैं। मेरा परिवार खासतौर पर इस बाबत सौभाग्यशाली है। उसका विष्णुदयाल-परिवार के साथ जो सम्बन्ध रहा, वह इतने निकट का था कि जब मैं बात-चीत करने लगा तो मेरे स्वर्गीय पिता बार-बार सुनाते थे कि वे सुखदेव के अग्रज यानी प्रो० विष्णुदयाल के १९१७ में सहपाठी रहे थे; जब पोर्ट लुई में रहने लग गये तो इस परिवार में घुल-मिल गये थे।

विष्णुदयाल बन्धु स्कूल के अध्यापक थे। सबसे बड़े भाई का देहावसान जुलाई १९३९ में हुआ। उनका जन्म उसी मास में सन् १९०४ में हुआ था। इस हिसाब से वे अल्पवयस्क थे जब उनका स्वर्गवास हुआ।

जिस नन्हें-से पत्थर के घर में तीनों भ्राताओं का जन्म हुआ था, वह अब भी विद्यमान है। हम गरीबजन कोई स्मारक बना न पाये। यह घर हमारी दृष्टि में और कुछ नहीं, स्मारक ही तो है। यह सुखदेव जी का स्मरण कराता रहेगा। कइयों का यह मत बन गया कि यही असली राज-महल है।

जब मैं चलने-फिरने लगा, तब इन भाइयों के दादा तारनसिंह जी उसी घर में रहा करते थे जहाँ पर तायाक के अनेक निवासी जाया करते थे। मेरे पिताजी का जाना आवश्यक था ही। दादा तारनसिंह के बारे में यह धारणा है कि वे दो बार गुजरे हैं: प्रथम बार बेहोश थे जब ग्रामीणों ने समझा कि मर गये थे।

प्राध्यापक जी भारत में उच्च शिक्षा पाकर लौट आये और उनका सबको परिचय मिला। १६४३ में सुनने में आया कि शहर में एक मैदान लिया गया जिसका नाम गांधी मैदान रखा गया। उत्साही जन बताने लगे कि वहाँ मेला भरेगा। मेरे पिताजी स्वयं राजधानी न जा पाये। मैं और मेरे चाचा जी रेलगाड़ी से पोर्ट लुई पधारे। ऐसा मेला मैं ही नहीं, और लोग भी इससे पहले देख नहीं पाये थे। उस विशाल जन-समूह के बीच में मैं खो-सा गया था, यूँ कहिए, मैं समुद्र की एक बूंद के समान था।

घर लौटा तो पितृदेव ने पूछा, क्या तुम प्राध्यापक जी को देख सके? जब सब कोई उन्हीं को देख रहे थे तो मैं कैसे न देखता? तब मुझसे पूछा गया कि उनके अनुज सुखदेव जी को देखा? मैं हाँ न कह सका। उस मेले में केवल जो पहले से उन्हें पहचानते होंगे, वे ही एक पल के लिए उनसे मिल सके होंगे। जो शोभा यात्रा हुई उसमें दोनों भाइयों की दादी जी भी सम्मिलित हुई थीं।

सुखदेव अपने अग्रज के सहायक थे, फिर भी किसी को पता ही न लगता था कि कहाँ तक मदद दे रहे थे। चार ही पाँच साल बाद घर-घर में लोग सुनाने लगे कि सत्याग्रह होने वाला है जब सुखदेव ने एक मिठाई-वाले को कम मिठाई पकाने की सलाह दी। उन्हें विश्वास न हुआ कि आप्रवासी दोबारा संघटन का दृश्य दिखा सकेंगे। सलाह देने वाले से कहा, एक बार यज्ञ में अपूर्व भीड़ देखने में आई, अब आप कहते हैं कि एक लाख हिन्दू-मुस्लिम घुड़दौड़ के मैदान में नहीं पधारेंगे, यह कैसे हो सकता है?

जब घुड़दौड़ के रोज सत्याग्रह हुआ तो मिठाई वाले ने कहा, मैं तो बरबाद हुआ सो हुआ, लेकिन मुझे अब आप्रवासियों पर गर्व है! इसमें सन्देह नहीं कि नया युग आ गया।

सुखदेव जी वे जननेता थे जो जनता के निकट सम्पर्क में आते थे। रिव्येर-दे-जाँगी से उन्होंने एक दिन जुलूस निकाला जो सुयाक पहुँचा। उन दिनों भारत से पधारे हुए एक-दो सज्जन भी थे। वे भी पदयात्रा में सम्मिलित हुए। करुण स्वर में सुखदेव ने जनता को सम्बोधित करके कहा, हम हर साल होली मनाते हैं, लगता है कि भविष्य में इस त्योहार को

मना न पायेंगे। हमें अपने मामूली अधिकार की रक्षा के लिए एकत्र होकर, अपनी आवाज़ बुलन्द करनी होगी। आज आवाज़ क्षीण है तो क्या हुआ! एक दिन अवश्य सशक्त हो जायेगी।

इस लघु लेख में केवल तायाक और रिव्येर-दे-जाँगी (Riviere Des Anguilles) में जो मेरे सामने हुआ, उसी को वर्णित किया जा रहा है। सबसे पहले बड़े भाई के प्रवचन सुनता रहा। छोटे भाई का जब भाषण हुआ तो मन-ही-मन कहने लगा, इनमें भी वाचा-शक्ति है। वे जल्दी-जल्दी न बोलते थे। उनका एक भाषण भी सुन लिया जाता था तो सुनने वाले को उन्हीं के समान सोच-विचारकर धीरे-धीरे बोलने का प्रोत्साहन मिलता था। जो उन्हें नहीं जानते थे वे विश्वास नहीं करते थे कि वे विदेश न गये थे। प्राथमिक पाठशाला के अध्यापक रहकर वे अपनी योग्यता खूब बढ़ा चुके थे। वे केवल योग्य न थे अपितु नम्र सेवक भी थे। एक ईसाई अध्यापक जो रिव्येर-दे-जाँगी के निवासी थे, छात्रों के अभिभावकों को प्रायः सुनाया करते थे कि वह सुखदेव के साथ त्रुदोदुस (Trou D'eau Douce) की सरकारी पाठशाला में अध्यापन करता था। उन्होंने मुझे कहा, मेरे ही कमरे में रहो। मैं एक दिन कराह रहा था जिससे वे चिन्तित हो उठे। मेरी पीठ पर व्रण था जो पक गया था। वह फूट पड़ा। रुई तो कमरे में पहले से ही थी। मेरी पीठ को उस सज्जन ने पोंछा; न जाने क्या लगाया। उन्होंने एक स्वच्छ वस्त्र का टुकड़ा लेकर पीठ पर बाँधा और कपड़े में पिन डाला। मुझे चैन मिला तो कृतज्ञ होकर मैंने कहा, "लोग बताते हैं कि आपका घर विद्यालय, अनाथालय तथा आरोग्यालय है। आज समझ में आया कि सच कहा जाता था।" पर-दुःख कातर सुखदेव ने आप्रवासियों के नाम पर लगे कलंक को मिटाया। सुखदेव ईसाइयों की ठीक उसी तरह सेवा करते थे जिस तरह हिन्दुओं या मुस्लिमों की।

औरों के विषय में कुछ न कहकर यह बताऊँगा कि उनका उदाहरण मेरे सामने न रहता तो मैं अपने यहाँ एक लघु पुस्तकालय कदापि न बना सकता और सरकारी स्कूल में अध्यापन करने के योग्य न बनता। मेरे निजी पुस्तकालय में जहाँ अनेक जिल्दों वाला अँग्रेजी कोश है वहाँ यजुर्वेद और

ऋग्वेद के कई मण्डल भी विद्यमान हैं।

सुखदेव जी की वक्तृता-कला पर लिखना अप्रासंगिक न होगा। जब वे बोलते थे तो मैं उन्हें सुनकर अपने को भूल जाता था। जितने श्रोता होते थे हम सब मन-ही-मन मानते थे कि सत्य में बल है। प्रेमचन्द जी ने क्या ही ठीक कहा है—"सच्चा कलाकार वही है जो हमारे मन की चंचलता को शान्त करके हमें सत्य की ओर ले जाये। जो स्वयं चंचल है, वह दूसरों को अचंचल कैसे कर सकता है ?" उनके भाषण से सचाई टपकती थी। वे एक अडिग चट्टान के समान थे, जिन्हें देखकर हम भी स्थिरता को प्राप्त होते थे। वे निर्माता थे, विध्वंसक नहीं। जो १०-२० मिनट भी उनसे वार्तालाप कर लेते थे वे अनुभव करते थे कि सजीव ज्ञान-भण्डार के सामने बैठे हैं। उन्होंने हजारों युवक-युवतियों को पढ़ाया। भेदभाव करना जानते ही न थे। चीनी, रंगीन तत्त्व के व्यक्ति, हिन्दू, मुस्लिम — सब वालों-विल स्ट्रीट जाते दिखाई देते थे। एक चीनी लड़की तायाक से वहाँ हर सप्ताह में एक दिन उस गली में आती थी जिसका अब 'सुखदेव विष्णुदयाल गली' नाम उस दिवंगत सेवक के सम्मान में दे दिया गया है। कई छात्र ऐसे थे जो निःशुल्क पढ़ते थे। कभी भी किसी को मालूम न हुआ कि कौन शुल्क चुकाते थे और कौन नहीं। विज्ञापन से घृणा करने वाले ये जन-सेवक कभी अनुचित उपाय से लोकप्रिय होने की चेष्टा न करते थे। शहर की गलियों में साधारण परिधान पहने हुए वे पैदल घूम-घूमकर सबसे मिलते थे। वे जन्म-भर यही शिक्षा देते रहे कि सादगी अपनाकर कोई छोटा नहीं बनता। उनकी जगह पर कोई और गरीब अध्यापक होता तो उनके समान ज्ञान प्राप्त करके क्या यहाँ, क्या लन्दन में, अपनी जन्मभूमि की सेवा करके किसी और प्रकार के घर में रहने से तथा कीमती जूते, टोपी, कपड़े धारण करने से बाज न आता। आज कौन है जो स्वीकार नहीं करता कि उन्होंने हमें नींद से जगाया ? तायाक (Tayak) के निवासियों में से मैं अकेला नहीं हूँ जिसके हृदय में उनके प्रति कृतज्ञता है।

उम्र में मुझसे बड़े एक सज्जन हैं जो एक दिन बीमार पड़ गये। घर पर उनकी सेवा न की जा सकी। उन्हें सुयाक (Souillac) ले जाया गया।

वहाँ के अस्पताल में वे बार-बार विष्णुदयाल जी की याद करते थे। वे स्वस्थ होकर घर लौटे और उन्होंने यह पत्र विष्णुदयाल जी को लिखा— "मैं अति बीमार हो गया था। शायद आप मुझे देखने भी आये थे। अस्पताल में प्रतिक्षण मुझे आप ही की याद आती थी। मित्रों ने आपका चित्र बताकर मुझे धीरज बँधाया।" ऐसे पत्र की विद्यमानता में कौन कहने का साहस करेगा कि सुखदेव हमारे बीच में नहीं हैं? केवल उनका पार्थिव शरीर तायाक और अन्यत्र दिखाई नहीं दे रहा है; उनकी यश-काया तो है और रहेगी। एक भी उच्च आत्मा का किसी शहर या गाँव से सम्बन्ध रहा हो तो वह नगर या ग्राम प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है।

हमारे दिवंगत नेता ने दि० २५ दिसम्बर को तायाक में जन्म ग्रहण किया था। आज क्या हमारे देश में, क्या विदेश में, ज्योंही उनकी चर्चा होती है तायाक नाम लिया जाता है। तायाकवासियों को अपनी जन्मभूमि पर अब पहले से कहीं अधिक गर्व है।

# भारत-स्थित एक मॉरीशसीय की श्रद्धांजलि

श्री रघुनाथ जानकी जो ४७ वर्ष से भारत में हैं, अपने बालसखा के विषय में लिखते हैं—

"मैं कुछ विद्यार्थियों को पढ़ा रहा था जब दि० १७ जनवरी को मुझे एक दु:खद पत्र तायाक से प्राप्त हुआ। मैं यह जानकर कि मेरे मित्र सुखदेव जी न रहे, सन्न रह गया। मेरा इस वज्राघात से कुछ क्षण से लिए बोलना बन्द हो गया।

मैं अपने को उनके परिवार का एक सदस्य परिगणित करता हूँ।

मुझे स्मरण है कि जब मैं रमेश्वरजी विष्णुदयाल बन्धुओं के स्वर्गीय चाचा के साथ उनके घर तायाक से पोर्ट लुई आता था, हम ताजिया देखने जाते थे। उस समय उनके पूज्य पिता जीवित थे। हम सब रात्रि को प्लेन-वेर्त (Plaine Verte) जाते थे। सुखदेव रास्ते में मजाक करते थे। सुखदेव विनोदप्रिय थे, सरल स्वभाव के थे।

उनका चल बसना ऐसी क्षति है जिसकी पूर्ति करना असम्भव है। वे ऐसे नेता थे जिनका प्रभाव देश-देशव्यापी था। वे सर्वप्रिय थे। उन्होंने सारा जीवन देश की सेवा की। चाहे उनका पार्थिव शरीर हमारे मध्य नहीं है, उनकी आत्मा विद्यमान है।

उन्होंने देश का नाम ऊँचा किया। उनका नाम देश के इतिहास में अमर रहेगा। प्रत्येक देशवासी उनका नाम लेगा और उनके पदचिह्नों पर चलने का संकल्प करेगा। वे एक मार्गदर्शक थे। हम सबको गर्व है कि हमारे परिवार में एक महान् आत्मा आकर देशोत्थान में सहायक हुई। सारे परिवार के साथ मेरी सहानुभूति है। धैर्य धारण करें।"

# उनकी विदेश-यात्राए

—श्रीमती कृष्णाकुमारी राधाकृष्ण

जब हमारे नेता जिनका शुभ नाम अनेक स्थानों को (Sookdeo Bissoondoyal Square Street Avenue, College Stadium) सुशोभित कर रहा है, १९६३ में नवम्बर मास में मन्त्री के पद पर आसीन हुए, उन्होंने विदेश-यात्रा करना आरम्भ किया।

वे यात्राएँ अविस्मरणीय रहेंगी, इसमें कतई शक नहीं। विगत शताब्दी में मॉरीशसीय नेता रेमी ओल्ये के चल बसने पर लील नामक ग्रन्थकार उनके पत्र "रक्षक" का सम्पादन करते थे। उन्होंने फ्रेंच टापू रेइन्यों की यात्रा की और एक भ्रमण-वृत्तान्त लिखा जिसे आज से एक दशक पहले एक दैनिक पत्र ने उद्धृत किया है। जैसे १९वीं सदी में यह सुखदेव जी द्वारा लिखित यात्रा विवरण वृत्तान्त घर-घर में पढ़ा गया था, ठीक वैसे ही २०वीं शताब्दी में पढ़ा जा रहा है और आगामी शती में पढ़ा जायेगा।

उन लोगों की संख्या न्यून है जिनको पता है कि जिस भाँति स्व० सुखदेव जी में बोलने की शक्ति थी, उसी भाँति उनकी कलम में ताकत थी। सरस्वती उनकी वाणी और लेखनी में वास करती थी। वे भी यात्रा-विवरण लिखते थे।

जहाँ कोई मन्त्री जाने को राजी नहीं होता था वहाँ ये सहर्ष जाते थे। रोड्रिग द्वीप की यात्रा करने वाले को कष्ट झेलने पड़ते थे। वे दो बार उस लघु द्वीप में पधारकर वहाँ की हालत से परिचित हुए। लोग उस नन्हें-से द्वीप में खिड़की बन्द किये बगैर सोया करते हैं क्योंकि चोर का डर नहीं है।

आजकल हवाई जहाज वहाँ जाने लगा है, अतः सब कोई रोड्रिग की यात्रा करने को तैयार हैं।

लन्दन के दो सांवैधानिक सम्मेलनों में वे अपने दल (स्वतन्त्र अग्रगामी दल) के सदस्य के साथ शरीक हुए। प्रथम बार उन्होंने १९६० ई० में मेरे नगर रोजिल में, जिसको महान् लेखक स्व० यशपाल जी ने 'गुलाब-टीला' हिन्दी नाम दिया है, एक बहुत ही बड़ी मीटिंग की थी। उसकी सफलता के परिणामस्वरूप सर्वश्री सुखदेव जी तथा गंगाराम जी विलायत गये थे। वहाँ उन्होंने एक भवन में भाषण दिये थे और रोजिल में ली गयी फ़िल्म को दिखाया था। असंख्य विलायत-स्थित मॉरीशसीय, जिनमें हिन्दू, ईसाई तथा मुस्लिम थे, उसमें उपस्थित हुए थे।

१९४८ में वे प्रथम बार निर्वाचित हुए थे। साथ-साथ उनके द्वारा खड़े किये गये उनके एक मित्र चुने गये थे। ५ वर्ष पश्चात् वे फिर चुने गये और उनके २ साथी प्रथम बार निर्वाचित हुए। उनकी तीन की मण्डली बनी। गोरों के दल के कुल दो प्रत्याशी चुने गये; ये दोनों लन्दन भेजे गये जबकि तीन की मण्डली के एक भी व्यक्ति को यात्रा करने का अवसर न दिया गया। १९६० में आयोजित मीटिंग अभूतपूर्व थी यद्यपि उस साल स्वयं मॉरीशस बवण्डर से आहत हुआ था। स्वयं उपनिवेश-सचिव यहाँ पधारे हुए थे। उन्हें रोजिल में प्राप्त सफलता का समाचार मिलते ही यह निर्णय लेना पड़ा कि 'स्वतन्त्र अग्रगामी दल' के २ व्यक्तियों को लन्दन बुलाना चाहिए। फलस्वरूप १९६९ में उक्त दो व्यक्ति वहाँ गये।

सुखदेव जी लोकायुक्त खोजने अकेले यूरोप पधारे थे। तभी से 'ओंबुद्स्मन' शब्द सबकी जुबान पर चढ़ा। उन्होंने छोटे-से-छोटे मामले में जाँच करवाने के विचार से लोकायुक्त की माँग जैसी रोजिल में, वैसी लन्दन में की थी।

अमेरिका भी उन देशों में आता है जहाँ पर वे पहुँचे। वहाँ उनसे भाषण करवाया गया और उन्हें वचन दिया गया था कि वह प्रसारित किया जायेगा। खेद का विषय है कि वह अभी तक सुनने में नहीं आया!

औपचारिक रूप से मन्त्री जो बोला करते थे, वे नहीं बोलते थे। श्री

लालवहादुर शास्त्री के निधन के वाद जो उनका भाषण हुआ था, वह इसीलिए मार्के का था। उसे सुनकर प्रा० रामप्रकाश, एम० ए० मंत्रमुग्ध से हो गये थे। शास्त्री जी को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उन्होंने हिन्दी का प्रयोग किया था।

अभी हाल ही में एक हिन्दी अध्यापक ने कहा है कि मैं छोटा था जब मैंने प्रथम वार उनके मुख से 'अनुसन्धान' शव्द सुना था जो मुझे अच्छा लगा था।

उन्होंने जो लेखमाला अपनी अमेरिका-यात्रा के विषय में लिखी थी वह दैनिक पत्र 'मोरिस्यें' में छपी थी। इसको अन्ततः पुस्तकाकार छाप दिया गया था।

जव वे धारासभा के सदस्य होने से पूर्व प्राथमिक पाठशाला में अध्यापन करते थे, तो इसी पत्र के लिए चिट्ठी, लेख आदि लिखते थे। उनकी फ्रेंच कविता साहित्यिक पत्रिका 'लेसोर' में प्रकाशिन हुई थी। उनके सैकड़ों हिन्दी लेख उन्हीं दिनों 'आर्यवीर', 'आर्य पत्रिका' तथा 'आर्यवीर' के विशेषांकों में प्रकाशित हुए। 'सनातन धर्मार्क' में उनके अंग्रेजी लेख छपा करते थे। जव आर्य युवकों की ओर से 'पत्रिका' के दिवाली विशेषांक का प्रकाशन होता था, उसमें भी उनका लेख दिया जाता था। ऐसे अंकों में उनके दो अग्रजों के लेख साथ-साथ होते थे। उस युग में युवा पीढ़ी एक-मात्र विष्णुदयाल वन्धुओं पर निर्भर करती थी।

सम्मानित होते रहने वाले भ्राताओं ने इस बात का ख्याल किया था कि हमारे कारण पत्रिका के विशेषांकों को तुच्छ न बताया जाये। सुखदेव जी २१ साल के भी न हुए थे कि उनका लेख छपा जिसका एक अंश दिया जा रहा है :

A dutiful Indian lived in America and throve there. Misfortune brought him to India. Being asked the cause of his landing in India, he answered pathetically :

**Jab American gali dekar kahtay thay 'Damned Hindu' to dil jal jata tha. May to marna chahta tha aor marne kay liyay yahan aya houn.**

This is a heart-rending story.

उनका मतलब था भारतीयों को विश्व-भर में ठुकराया जाता था; मॉरीशस में भी खराव हालत थी। वे 'कर्मलाल' नाम से लिखा करते थे। सबसे बड़े भाई स्व० सुग्रीव जी ने अपना नाम 'आर्यकुमार' रखा था।

## भारत-यात्रा

१६६५ के आरम्भ में सुखदेव जी अन्य पाँच मन्त्रियों के साथ भारत पहुँचे। दक्षिण भारत में पधारकर नोबेल पुरस्कार के प्राप्तकर्ता विज्ञान-वेत्ता डॉ० सी० वी० रमण से मिले। बिना देर किये श्री सुखदेव ने इस शती के द्वितीय दशक के कलकत्ता विश्वविद्यालय की चर्चा छेड़ दी। ऐसी वात अप्रत्याशित थी। विज्ञानी जे० सी० वोस के सम्वन्ध में भी प्रश्नकर्ता ने प्रश्न किया। मॉरीशस का कोई निवासी ऐसे प्रश्नों के साथ आया, यह विस्मित करने वाला था। साथियों को मौन धारण करने के सिवा कोई चारा न था। एक ने अर्थात् श्री पाचिरो ने वातचीत में मशगूल दो महानुभावों का चित्र उतारा। कम-से-कम इन्हें कुछ-न-कुछ करना सूझा। सुखदेव की बातों से श्री रमण इतने प्रसन्न हुए कि वे सब मॉरीशसियों को अपने पदक वतलाने लगे। उन्होंने साथ-साथ कहा, 'मुझे लग रहा है कि मैं द्वितीय बार नोबेल पुरस्कार पाऊँगा।' कुछ मिनटों में ही इस महान् भारतीय को भान हुआ कि सुखदेव भारतीयता के उपासक हैं। उन्होंने इनसे कहा, 'मैं वही भोजन करता हूँ जो घर पर मेरी देवी तैयार करती हैं।' वे जव पश्चिम में गये हुए थे वहाँ के विज्ञानवेत्ता उनके पास प्रातः पधारे। जो उन्होंने नयी बात दुनिया को वतायी थी वह प्रदर्शन करके उन्होंने समझाई। सायं को भोज दिया गया तो उनके सामने शराव* भी रखी गयी।

---

*प्रदर्शन में वताया गया था कि सूर्य का मदिरा पर रमण के मतानुसार क्या असर होता है—

You delighted us in the morning with a demonstration of (the) Raman effect on alcohol. Why not continue the pleasure of a reciprocal exhibition of alcoholic effect on Raman.

ये महान् भारतीय शराब ग्रहण करने वाले थोड़े थे ! एक यूरोपियन ने कहा, रमण का मदिरा पर असर होता है, पर शराब का रमण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मतलब Raman Effect से था।

'रमण इफेक्ट' नाम से दुनिया परिचित है। याद रखने लायक यह है कि रमण की कृपा से ही हम जान पाये हैं कि प्रकाश-किरण के संयोग से जल का रंग नीला हो जाता है।

ये भारत माता के सच्चे प्रतिनिधि सिद्ध हुए। ऐसे ही प्रतिनिधि कवि-वर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा महात्मा गाँधी हुए। बापूजी तीन वर्ष विलायत में रहे और १६०१ में तीन सप्ताह मेरी मातृभूमि मॉरीशस में। उन्होंने मदिरापान को दोनों देशों में त्याज्य ही समझा। सीख लेनी हो तो ऐसों से लेनी चाहिए।

सुखदेव के साथियों ने देखा कि इनका साथ दिया न जा सकेगा। वे श्री सी० पी० रामास्वामी आयर से मिलने गये जो उस समय प्रा० वासुदेव विष्णुदयाल के एक नये ग्रन्थ की भूमिका लिख रहे थे। आयर जी ने कहा कि 'मैं आप (सुखदेव) के ग्रन्थ की भूमिका लिख रहा हूँ।' सुखदेव ने सबको हँसाते हुए कहा, 'हम जो मन्त्री हैं, ग्रन्थकार नहीं हैं।'

मैं गागर में सागर भरने निकली थी; अब मालूम हो रहा है कि मुझसे यह कार्य होने का नहीं है। इनकी यात्राओं का विस्तृत वर्णन एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही में हो सकता है।

# सुखदेव विष्णुदयाल के जीवन में संख्या २८ का महत्त्व

— राजमन राधाकृष्ण

हमारे दिवंगत नेता सुखदेव विष्णुदयाल जी की जीवनी याद करनी हो तो २८ संख्या को भुलाना नहीं चाहिए।

जिस घर में विष्णुदयाल परिवार रहता है वह १६२८ में खरीदा गया था। उससे पहिले किराये पर लिये जाने वाले घर पर रहता था।

उन्होंने अपने दो भाइयों को यानी स्व० सुग्रीव जी को तथा प्राध्यापक वासुदेव जी को अध्यापन करते देखकर उनका अनुसरण करने का पक्का निश्चय कर लिया। जो भी किताब दो बड़े भाई पढ़ते थे, उसी को लेकर वे आरम्भ से अन्त तक मनोयोग से पढ़ा करते थे। १६२० में सबसे बड़े भाई सुग्रीव ने बम्बई से एक अंग्रेजी गीता मँगाई थी। इसको तीनों पढ़ा करते थे, यद्यपि किताब कम ही समझ में आती थी।

सुग्रीव को फॉरेस्ट साइड (Forest Side) में बने प्रथम ट्रेनिंग-कॉलेज का छात्र बनने का यश प्राप्त हुआ था। उस कॉलेज के खुलने से पहले ट्रेनिंग स्कूल पोर्ट लुई में था। एक युवकों के लिए था तो दूसरा युवतियों के लिए। स्थानान्तरित होते ही स्कूल कॉलेज में परिणत हो गये।

१६२४ में सुग्रीव परीक्षोत्तीर्ण हो गये थे। वे देश-भर में सफल हुए परीक्षार्थियों में सर्वप्रथम थे जबकि उनके अनुज प्राध्यापक वासुदेव महोदय भी साथ सफल हुए।

सुग्रीव ने मानो घर पर ही ट्रेनिंग कॉलेज खोल दिया था। शनिवार को ६ जिलों से अध्यापक उनके यहाँ पधारते थे। सब एक मेज पर बैठकर इस मॉरीशसीय विदुर द्वारा परसी गयी मिठाई और चाय खुशी से ग्रहण करते थे। इस तरह उन्होंने शिष्यों को भेदभाव मिटाना सिखाया। एक ब्राह्मणकुमार को एक ही मेज पर उनके एक मुस्लिम मित्र के साथ चाय

ग्रहण करनी थी। गुरु की प्रार्थना स्वीकार करने के सिवा और कोई चारा न था। यह याद आते ही वेचारे के नेत्र खुले कि जब ईसाई पादरी सबको साथ भोजन करने को कहते थे तो वे अन्दर-अन्दर हिन्दू और मुस्लिम को ईसाई धर्म की दीक्षा देने का स्वप्न देख रहे थे। यहाँ दूसरी बात थी।

ट्रेनिंग कॉलेज में केवल वे अध्यापक लिये जाते थे जो अध्यापकों की तीन परीक्षाओं में से एक या दो परीक्षाएँ पास कर चुके होते थे और जो साथ-साथ १८ साल की उम्र के हो चुके होते थे।

कॉलेज का छात्र होने का अवसर हाथ लगा था, परन्तु घर में जो 'कॉलेज' खुल गया था उसका छात्र होना सुखदेव ने अधिक पसन्द किया।

वे सबसे बहस करते रहते थे, अतः बहुत-से ग्रन्थों का अवलोकन भी दिन-रात करते थे; पाठ्य-पुस्तकों को कम ही देखा करते थे। इसका यह फल हुआ कि १९२७ में वे परीक्षा में तो बैठे, किन्तु अनुत्तीर्ण हो गये। घर पर निराश होकर लौटे और अपनी दादीजी से उन्होंने कहा—

"दादी मेरी, मैं तो फेल हो गया हूँ।"

दादीजी ने समझ लिया कि ये कहना चाहते हैं कि तीन भाइयों में मैं सबसे निकृष्ट हूँ। उन्होंने सान्त्वना दी और कहा —"सुग्रीव बीस साल के थे जब पास हुए थे।"

तब भी सान्त्वना न मिली। सुखदेव ने कहा, "सुग्रीव को तो परिवार का पालन-पोषण करने के लिए दो साल नौकरी करनी पड़ी, अतः परीक्षा नहीं दे पाये। उन दो वर्षों को क्यों गिना जाये?"

सुखदेव स्वभाव से देर तक निराश रहने वाले व्यक्ति न थे। १९२८ में वे परीक्षोत्तीर्ण हुए। वे १९ वर्ष की अवस्था के थे। जो दर्जा प्राध्यापक वासुदेव जी को मिला था, वही इनको चार साल बाद मिला। ये दोनों, बड़े भाई ने जो कीर्तिमान स्थापित किया था, वह स्थापित करने में असमर्थ रहे। संख्या २८ यहाँ भी उनके अनुकूल आ गयी।

कोई भी स्थान पाकर सफल होने पर वही प्रमाणपत्र मिलता है जो सर्वप्रथम निकलने वाले को प्राप्त होता है।

१९३३ में प्रा० वा० विष्णुदयाल इस प्रमाणपत्र और उस दैनिक पत्र की एक प्रति लेकर लाहौर पधारे जिसमें परीक्षाफल दिया गया था। वे उसके बल पर कॉलेज का छात्र होने के इच्छुक थे। पंजाब विश्वविद्यालय

ने उन्हें छात्र-वर्तनी की आज्ञा दी जिससे एक सुदूर और बहुत ही छोटे देश के स्कूल-विभाग द्वारा की गयी परीक्षा को मान्यता मिली। अधिकारी मॉरीशसीय अखबार में सुग्रीव और वासुदेव के नाम साथ देखकर शायद भ्रम में यह सोचते रहे होंगे कि परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान लेने वाले को भारत की मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के योग्य समझना उपयुक्त भी है या नहीं ?

वासुदेव जी ने भ्रम को दूर किया, यदि भ्रम रहा हो, जब नामवरी से एक-एक परीक्षा पास करने लगे।

सुग्रीव के साथ सुखदेव वैस्टर्न सवर्ब (Western Suburb) स्कूल में अध्यापन करने लगे। उनके मित्रों में से मायावरम् के पुत्र थे। ये सज्जन (सुखदेव जी के मित्र के पिता) १९वीं सदी में सुयाक सरकारी स्कूल के मुख्याध्यापक थे। इन्होंने स्कूल के बच्चों के लिए 'लुक एण्ड से' (Look and Say) नाम से एक लघु पुस्तक लिखी थी। ये और फ्लाक जिले के दानी हनुमान जी थिओसोफिकल सोसायटी के सदस्य हो गये थे जो भारतीय ज्ञान का विश्व-भर में प्रचार कर रही थी। यहाँ सोसायटी का आगमन पहले हुआ और आर्यसमाज का बाद में।

उक्त सरकारी पाठशाला के तरुण अध्यापक सुग्रीव को गुरु समझकर उनकी हद से ज्यादा इज्जत करते थे। सुखदेव से तो खुलकर मिला करते थे।

उन्हीं दिनों एक अध्यापक का ईसाईकरण हुआ। आर्यसमाज के सदस्य सुखदेव को धक्का लगा। यह देखकर वे और अधिक दुखी हुए कि नव-ईसाई में भी परिवर्तन आ गया था; उसके लिए हिन्दी या भोजपुरी के शब्द कर्णकटु हो गये थे। एक दिन कुछ अध्यापकों को साथ लेकर सुखदेव इस साहब से मिले और कहने लगे—'आदरणीय महोदय ! हम अध्यापकों की ओर से भयंकर भूल हो गयी ! हमने आपका अभी तक पूरा सम्मान नहीं किया। हमें अपनी गलती सुधारने का मौका दीजिए। आज शाम को जब घर लौटेंगे तो आपको बस में बैठाएँगे जिससे सब लोग देख पाएँ कि आपका दर्जा कितना ऊँचा हो गया !' साहब फूलकर कुप्पा हो गया।

सुखदेव ने अपने मित्रों को पहले ही सावधान कर दिया था। उन्होंने कह दिया था, सुग्रीव को इस षड्यन्त्र का पता न लगे।

शाम को ये शरारती सुखदेव का नेतृत्व स्वीकार करके नव-ईसाई को

सचमुच वस में वैठाने गये। नेता और अनुयायी उमंग से पूर्ण थे। इन्होंने अपना स्थान चुन लिया। दूसरे लोग भी आये। वस छूटने वाली थी कि इतने में सुखदेव उस साहव के अति निकट आकर जोर-जोर से कहने लगे— "वोल रे जदवा, अच्छा हवे न ?"

साहव तिलमिला उठा। वह आगे-पीछे रास्ता ढूँढ़ रहा था ताकि सरकारी स्कूल के इन शरारतियों को मोका गली में दौड़ाकर अपमानित करे। तव तक चालक ने वस चलाना शुरू कर दिया।

जिन दिनों सुखदेव अध्यापकों का नेतृत्व करने लगे थे, तव उनका स्वभाव उतना उग्र न रहा जितना सेंट्रल स्कूल में प्रशिक्षण पाने के समय था। विल्येर्स रेने मुख्याध्यापक थे। यही कारण है कि अव वह पाठशाला 'विल्येर्स रेने स्कूल' नाम से प्रसिद्ध है।

किसे मालूम था कि सुखदेव अपने मुख्याध्यापक की ही तरह सम्मानित होने वाले थे? रोस्वेल का नवीन विद्यालय उन्हीं के नाम से जाना जाता है।

यहाँ, मैं उस युग की याद दिलाऊँगा जवकि वे वैस्टर्न सवर्व में आये न थे। एक दिन एक उद्दण्ड विद्यार्थी उनकी कक्षा में दुर्व्यवहार करने लगा। वह छड़ी से पीटे जाने के योग्य न था। सुखदेव ने उसे एक लात धर दी क्योंकि लात का देवता वात नहीं मानता। ठीक उसी समय रेने प्रकट हुए। वे रुष्ट होकर पूछने लगे, "क्या तुमने किसी भी अध्यापक को छात्रों को लात मारते देखा है?"

'जदवों' को सुधारकर रास्ते पर लाने वाले उन्हीं उग्र सुखदेव जी को मैंने १९४८ में सेवा करते भी देखा। उनका उसी वर्ष समस्त देश में दवदवा हो गया था।

धारासभा के सदस्य के रूप में वे न्याय, स्कूल, पुलिस एवं स्वास्थ्य-विभागों में परिवर्तन लाने में प्रयत्नशील रहे। उन दिनों सव कोई पूछते थे, इस सप्ताह धारासभा में क्या हुआ? वैसे, वैठने के लिए उन दिनों आज की अपेक्षा कहीं अधिक स्थान सुरक्षित था। जितने लोग सदस्यों के भाषणों को सुनने के लिए हर मंगलवार वहाँ पधारते थे, उतनों के लिए फिर भी स्थान पर्याप्त न था। सरकारी प्रेस में जो विवरण से भरे ग्रन्थ मुद्रित होते थे, वे तीन मास से पूर्व विकते न थे। अखवारों में भी पूरा विवरण नहीं

दिया जाता था। इस अभाव की पूर्ति में सुखदेव का पाक्षिक पत्र छपने लगा जिसमें कभी अंग्रेजी-फ्रेंच में तो कभी हिन्दी में उनके भाषण प्रकाशित किये जाने लगे। एक वार एक चीनी पत्र ने भी उनका सन्देश चीनी में छापा।

स्वराज्य-प्राप्ति सम्भव न थी। उन्होंने पहले यहाँ, तब लन्दन में जी-जान से देश को मुक्त करने के प्रयत्न किये। यहाँ रहते हुए उन्होंने जनमत जगाया; लन्दन में रहते हुए उपनिवेश-सचिवालय को झुकाकर छोड़ा।

किसे मालूम था कि बाधा उपस्थित की जायेगी! इतिहास में जिस प्रतिवेदन को 'बानवेल रिपोर्ट' कहा जाता है, उसमें यह सुझाव दिया गया था कि साधारण निर्वाचन के हो जाने पर किसी दल का एक भी प्रत्याशी निर्वाचित होगा तो यह देखा जायेगा कि देश-भर में उस दल के हक में कितने वोट पड़े। यदि उसने २५ प्रतिशत मत प्राप्त किया हो तो उसे और १६ कुर्सियाँ दी जायेंगी।

यह सुखदेव ही थे जिन्होंने इसका विरोध किया। लन्दन से तत्काल श्री स्टोनहाउस को यहाँ भेजा गया। सुखदेव ने समझाया कि रिपोर्ट मान ली गई तो स्थिरता नहीं रहेगी। निर्वाचित उम्मीदवारों को कुर्सी से वंचित नहीं रखा जा सकेगा। मतलब यह होगा कि ७० निर्वाचित सदस्यों के साथ और १६ व्यक्ति सदन में बैठेंगे। तब ७० नहीं, ८६ सदस्य होंगे।

उनका कथन युक्तियुक्त था और उनकी विजय हुई। रिपोर्ट के अनुसार चाहे 'स्वतन्त्र अग्रगामी दल' अर्थात् सुखदेव के दल को लाभ हो सकता था, फिर भी उन्होंने अपने लाभ के कारण देश को बन्धन में नहीं डाला। ऐसा था उनका निस्स्वार्थ देश-प्यार! वे लगातार २८ वर्ष सभा के सदस्य रहे, और जन-जन के प्रतिनिधि बनकर जीवन को राष्ट्र के लिए अर्पित किये रहे। उनका जीवन समूची मनुष्यता के लिए अनुकरणीय रहेगा!

रिपोर्ट के बारे में और दो शब्द कहूँ। उसमें लिखा था कि उसका एक शब्द भी बदला नहीं जायेगा। शिक्षित आप्रवासी भयत्रस्त थे। उन्होंने सोच रखा कि सचमुच परिवर्तन लाया नहीं जायगा। आगत अंग्रेज को सुखदेव का जब सुझाव मानना पड़ा उन्होंने कहा, यहाँ आने पर परिवर्तन किया गया। तब तो लन्दन से मॉरीशस आगे निकल गया!

सुखदेव जी ही के जीवन में क्या, उनके अग्रजों के जीवनों में भी कुछ

विशेष संख्याओं का महत्त्व है।

वासुदेव विष्णुदयाल ३३ के साल में भारत के लिए रवाना हुए थे।

१९३५ में उन्होंने गुरुकुल में दो मास अध्यापन कार्य किया जब उस संस्था के ३३ साल पूरे हुए थे।

संख्या कभी-कभी दुःखद घटनाओं की भी याद दिलाती है। उनके अग्रज सुग्रीव जी का देहान्त १९३९ में हुआ। अग्रज तो ३५ वर्ष की वय के थे पर वे ३३ वर्ष के ही थे।

१९३९ समाप्त हो रहा था जब वे घर लौटे। तब उनकी उम्र ३३ साल ही की थी।

इससे भी विचित्र बात यह है कि उनके ३३ घरों में ठहरना चर्चा का यदा-कदा विषय होता है। वे घर या उनके स्थान हैं—१. रिव्येर देज़ाँगी वाला, २. रोजिल, ३. शान्ति गली, पोर्ट लुई, ४. दाविद स्ट्रीट, ५. मार्गो गली, ६. कालीकट गली, ७. आवात्वार मार्ग, ८. विष्णु क्षेत्र मन्दिर के आसपास जाकोब स्ट्रीट, ९. वेलिंगटन गली, १०. संदेनी गली, ११. सेंज़िल्यें, १२. सुखदेव विष्णुदयाल गली, १३. जहाँगीर समुद्री जहाज जो उन्हें भारत ले गया, १४. लाहौर के उपदेशक विद्यालय का एक कमरा, १५. आर्य विद्यार्थी आश्रम, १६. डलहौजी (हिमालय), १७. रावलपिण्डी, १८. मरी, १९. धर्मशाला, २०. पहलगाम (कश्मीर), २१. कलकत्ता आर्य समाज, २२. यूनिवर्सिटी मेस, २३. डार्जिलींग, २४. हरिद्वार, २५. मसूरी, २६. चितरंजन एवेन्यू, २७. कलकत्ते का एक चौथा स्थान, २९. बम्बई आर्य मन्दिर जिसकी ऋषि दयानन्द ने स्थापना सौ साल पहले की, ३०. अलावी जहाज जिससे लौटे, ३१. कलकत्ता का अस्पताल, ३२. पोर्ट लुई जेल तथा ३३. बोंबा सें जेल। इतनी गलियों या स्थानों वाले घरों के अन्तर्गत दो चलने वाले घर रहे।

इनके अग्रज की जीवनी पर संख्या १४ प्रकाश डालती है।

वे १४ वर्ष की अवस्था में स्कूल छोड़कर काम करने लगे।

उनकी ३५ वर्ष की अल्प आयु में १४ घटनाएँ घटीं, यथा—

१. १८६४ में प्रथम बार एक प्रवासी भारतीय जो नॉर्मल स्कूल के छात्र थे, अध्यापकों की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और सर्वप्रथम निकले। सुग्रीव जी भी नॉर्मल स्कूल के छात्र थे। उन्होंने १९२२ में सर्वप्रथम स्थान पाकर सबको चकित किया।

२. १६२३ में वाक्वा रेलवे स्टेशन पर गाड़ी पहुँची थी जब उनके साथ दुर्व्यवहार किया गया था।

३. ट्रेनिंग कॉलेज के छात्र थे जब कोहाट (भारत) में उन्होंने सहायतार्थ स्वयं द्रव्य भेजा और मित्रों को भेजने की प्रेरणा दी। तत्सम्बन्धी समाचार 'मॉरीशस मित्र' में छपा था।

४. उसी कॉलेज के छात्र थे जब उन्होंने सत्यार्थप्रकाश सार अंग्रेजी में लिखा था।

५. १६२४ में कँवर महाराजसिंह इधर पधारे थे। उन्होंने सिंह जी को एक महत्त्वपूर्ण पत्र लिखा था।

६. एक साल बाद वे आर्य कुमार सभा के मन्त्री हुए।

७. तत्पश्चात् परोपकारिणी सभा के मन्त्री के पद पर आसीन हुए।

८. स्वा० विजानानन्द को पता लगा कि ये युवक और इनके दो भाई गांधी टोपी धारण करेंगे। वे खुश होकर कहने लगे, आप अपने आत्मिक बल का परिचय देंगे।

९. तेर रूज ग्राम में पादरी ज़िरू से जूझ गये। शास्त्रार्थ हुआ। समय-समय पर उनके दो अनुज पेटी से ग्रन्थ निकालकर पेश करते थे जिनमें वोल्तेर की अनेक पुस्तकें थीं। एक हिन्दू परिवार जो ईसाई होने वाला था, वच गया।

१०. अपने घर पर एक प्रकार का ट्रेनिंग कॉलेज खोला। उनके अनेक शिष्य अध्यापन करते थे। वे देश भर में लोकप्रिय हुए।

११. वे १६२६ में जिस सरकारी स्कूल के अध्यापक थे, उसमें हिन्दू धर्म की शिक्षा देने लगे। यह अभूतपूर्व था।

१२. एक हिन्दी रात्रि पाठशाला खोलकर हिन्दी पढ़ाने लगे। नामी अध्यापकों का सहयोग उन्हें प्राप्त था जिनमें एक स्व० सरनाम जी थे।

१३. अपने मित्रों को समझाने लगे कि आर्य और सनातन धर्मियों के बीच किसी भी कारण झगड़ा करवाना नहीं चाहिए। संघटन के युग का श्रीगणेश हुआ।

१४. जैसे कि कहा जा चुका है, उनके स्कूल के छात्र का जीवन तब समाप्त हुआ जब वे १४ वर्ष की वय के थे।

□·□

१०१ साल में एक मात्र विष्णुदयाल हुए जो
रेमी ओल्ये के टक्कर के थे या उनसे भी बढ़कर